

बीतक से शिक्षा

(Teachings from Beetak)

वक्ता
राजन स्वामी

प्रलेखन
कृष्ण कुमार कालड़ा



श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ
सरसावा, जिला सहारनपुर

बीतक से शिक्षा

(Teachings from Beetak)

श्री राजन स्वामी जी द्वारा की गई चर्चा पर आधारित

(Based on Charcha by Shri Rajan Swamiji)

प्रलेखन
कृष्ण कुमार कालड़ा



श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ
सरसावा, जिला सहारनपुर (उ. प्र.)

© प्रकाशक 2021

श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ

सरसावा, जिला सहारनपुर, उत्तर प्रदेश

फोन : 7088120351

वेबसाइट : www.spjin.org

ई-मेल : shriprannathgyanpeeth@gmail.com

प्रथम संस्करण : 2021 (1000 प्रतियाँ)

न्यौछावर :

ISBN : 978-93-85094-34-7

मुद्रकः

ज्ञानपीठ मुद्रणालय

सरसावा

आमुख

प्रत्येक वर्ष श्रावण मास की पंचमी से श्री निजानन्द सम्प्रदाय के मंदिरों एवं संस्थाओं में सूक्ष्म या वृहद् रूप से एक माह के लिए बीतक चर्चा का पारम्परिक रूप से आयोजन किया जाता है। इस दिन वि.सं. 1751 में श्री जी अपनी लगभग 75 वर्ष की दर्शन लीला समाप्त कर समाधिस्थ हो गए थे।

वस्तुतः बीतक कोई मानवीय इतिहास नहीं है, वरन् ब्रह्मात्माओं का अक्षरातीत परब्रह्म से जो संबंध अनन्त काल से रहा है तथा अनादि काल तक रहेगा, यह सम्पूर्ण घटनाक्रम बीतक कहलाता है। दूसरे शब्दों में, ब्रज, रास और उसके पश्चात् इस जागनी ब्रह्मांड में चौथे और पांचवें दिन की लीला में जो कुछ हुआ, वर्तमान में छठे दिन की लीला में जो हो रहा है, यह सब बीतक है। न ही यह सद्गुरु श्री देवचन्द्र जी व श्री प्राणनाथ जी की जीवन गाथा है। बल्कि मूलमिलावे में विराजमान मूल स्वरूप अक्षरातीत ने इस दोनों का तन धारण कर अपनी आत्माओं को जगाने के लिए जो कुछ किया, उसे बीतक कहा जाता है।

यद्यपि बीतक के सभी प्रसंग हमारे लिए प्रेरणास्पद हैं, क्योंकि अक्षरातीत श्री राजजी ने श्री लालदास जी के धाम हृदय में बैठकर स्वयं इसकी रचना की है,

तथापि इस पुस्तिका में कुल ऐसे 23 प्रसंगों का वर्णन किया गया है जो हमारे लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण एवं शिक्षाप्रद हैं ताकि हम उन्हें अपने जीवन में उतार सकें।

इस पुस्तिका का प्रलेखन कार्य हमारे सेवाभावी जयपुर सुन्दरसाथ श्री कृष्ण कुमार कालड़ा, जो राजस्थान सरकार के एक प्रतिष्ठित प्रशिक्षण संस्थान से चार दशकों का प्रकाशन एवं संपादन कार्य का अनुभव प्राप्त कर, प्रकाशन अधिकारी एवं सह-संपादक पद से सेवानिवृत हुए हैं, ने किया है। इनकी प्रारम्भ से लेखन कार्य में रुचि रही है तथा वे 'तारतम मंजरी' सहित विभिन्न पत्रिकाओं में वाणी और बीतक के विभिन्न पहलुओं पर लिखते रहे हैं।

आशा है, पाठकों को यह पुस्तिका रुचिकर तथा उपयोगी लगेगी।

- राजन स्वामी
श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ, सरसावा

प्राक्कथन

श्री

प्राणनाथ ज्ञानपीठ, सरसावा के आचार्य श्री सुभाष जी के आदेश पर ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका ‘तारतम मंजरी’ के सितम्बर 2019 के अंक से पूज्य श्री राजन स्वामी जी द्वारा वर्ष 2018 में ज्ञानपीठ में की गई चर्चा पर आधारित लेखों की एक श्रृंखला प्रारम्भ की गई थी, जिसमें प्रत्येक अंक में एक विशेष प्रसंग/घटनाक्रम का संक्षिप्त वर्णन कर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है कि यह हमारे लिए क्यों महत्वपूर्ण है तथा इससे हमें क्या शिक्षा लेनी चाहिए?

इस श्रृंखला के अब तक दस लेख प्रकाशित हो चुके हैं। इस दौरान पिछले दिनों ज्ञानपीठ के आचार्य सुभाष जी ने मुझे कहा कि पूज्य स्वामी जी इन्हें एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित करना चाहते हैं तथा मैं शेष समस्त लेखों का प्रलेखन कार्य शीघ्र पूर्ण कर दूं ताकि उन्हें भी प्रस्तावित पुस्तक में सम्मिलित किया जा सके।

मुझ जैसे अल्पज्ञ व्यक्ति के लिए यह सचमुच हर्ष का विषय था जिसके लिए मैं पूज्य स्वामी जी तथा श्री सुभाष जी का हृदय से आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे इस सेवा के योग्य समझा। यद्यपि मैंने इस पुस्तिका को त्रुटि रहित रखने का पूर्ण प्रयास किया है फिर भी किसी प्रकार की मानवीय भूलों का सम्पूर्ण उत्तदायित्व मेरा है। पाठकों के सुझाव सादर आमंत्रित हैं।

- कृष्ण कुमार कालड़ा

अनुक्रमणिका

आमुख

प्राक्कथन

1.	तीनों स्वरूपों की बीतक	1-3
2.	मूर्ति/जड़ पूजा अभिशाप है	4-7
3.	आत्म-चिंतन का महत्व	8-10
4.	श्री देवचन्द्र जी को दर्शन	11-14
5.	चितवनी का महत्व	15-17
6.	पाप की कमाई	18-20
7.	गादीवाद : एक अभिशाप	21-25
8.	आत्म-जाग्रति एवं मेले-भंडारे	26-29
9.	ज्ञान का अहंकार नहीं करना चाहिए	30-36
10.	आहार की सात्त्विकता	37-40
11.	धैर्य की परीक्षा	41-44
12.	क्या वाणी इस्लामोन्मुख है ?	45-50
13.	अध्यात्म में असहिष्णुता	51-54
14.	वाणी का कथन अंतिम सत्य है	55-58
15.	पुरुषार्थ का महत्व	59-61
16.	खंडनी और जागनी	62-65
17.	मोमिनों की कुर्बानी	66-70
18.	धर्म में त्याग और तप की महत्ता	71-74
19.	दर्शन की पात्रता	75-78
20.	कृतज्ञता	79-82
21.	अहम् और समर्पण	83-86
22.	तमे प्रेम सेवाए पामसो पार	87-91
23.	श्री लालदास जी की प्रबन्धन कला	92-44

तीनों स्वरूपों की बीतक

श्री

बीतक साहब का प्रथम प्रकरण ‘तीनों स्वरूपों की बीतक’ से प्रारम्भ होता है। यहां प्रश्न यह उठता है कि ये तीन स्वरूप कौनसे हैं? इस सम्बन्ध में सुन्दरसाथ में कुछ आन्तियां व्याप्त हैं।

कुछ लोग इन तीन स्वरूपों में बसरी, मलकी तथा हकी को सम्मिलित करते हैं तो कुछ लोग ब्रज, रास और जागनी के स्वरूपों को। लेकिन यहाँ प्रसंग दूसरा है। चूंकि ब्रज की लीला भागवत में तथा रास की लीला ‘रास’ ग्रन्थ में वर्णित की जा चुकी है, अतः इन दोनों लीलाओं का इस सन्दर्भ में उल्लेख करने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः यह जागनी ब्रह्माण्ड की बीतक है जो ब्रज और रास की लीलाओं के पश्चात् बना है और इसमें परमधाम की आत्माओं के साथ स्वयं अक्षरातीत पधारे हैं तथा जो वि.सं. 1638 से 1758 तक 120 वर्ष तक लीला करते हैं। इस सम्बन्ध में ‘सनंध’ ग्रन्थ में कहा गया है : “बीसा सौ वरसोलो कायम, होसी बैराठ सचराचर” अर्थात् जब जागनी लीला के 120 वर्ष बीत जायेंगे तब यह सारा ब्रह्माण्ड अखण्ड मुक्ति को प्राप्त करने का अधिकारी हो जायेगा। इसी प्रकार, बीतक साहब की निम्न चौपाई से भी स्पष्ट होता है कि यह 120 वर्ष की ही लीला है :

सोई सरत कुरान में, लिखी एक सौ बीस बरस।
चार पांच छठा दिन, तब जाहिर होवे अरस॥(2/24)

अब प्रश्न यह उठता है कि जागनी लीला के ये 120 वर्षों की गणना कैसे की जाय तथा तीन स्वरूप कौनसे हैं? जागनी लीला का प्रारम्भ वि. सं. 1638 में श्री देवचन्द्र जी के तन के प्रकट होने से प्रारम्भ होता है जो वि.स. 1712 तक चलती है। वि.सं. 1712 में श्री देवचन्द्र का तन ओङ्कार हो जाता है। इसके पश्चात् वि. सं. 1712 से 1751 तक श्री प्राणनाथ जी के तन से लीला होती है। वि.सं. 1751 में श्री जी के अन्तर्ध्यान के पश्चात् शेष सात वर्षों में आवेश लीला महाराजा श्री छत्रसाल जी के तन से सम्पादित होती है। ऐसी स्थिति में तीनों स्वरूपों का भाव श्री देवचन्द्र जी, श्री प्राणनाथ जी तथा श्री छत्रसाल जी से लिया जायेगा न कि बसरी, मलकी तथा हकी सूरत से। चूंकि यह जागनी लीला की बीतक है, अतः इसमें मुहम्मद साहब का बहुत संक्षेप में उल्लेख किया गया है।

उल्लेखनीय है कि लैल-तुल-कद्र की रात्रि में तीन तकरार होते हैं : ब्रज, रास और जागनी। जैसाकि हमने पूर्व में कहा है कि ब्रज और रास की लीला बीत चुकी है। अब इस जागनी लीला में जो कुछ हुआ - ब्रह्मात्मायें कैसे अवतरित होती हैं, श्री राज जी दोनों तनों में विराजमान होकर कैसे लीला करते हैं तथा शेष बचे सात वर्षों में कैसे श्री छत्रसाल जी को सारी शोभा देते हैं - यह सब कुछ ही बीतक साहब की विषय-वस्तु है। स्मरणीय है कि श्री छत्रसाल जी, जिनके अन्दर साकुण्डल की आत्मा है, ने समर्पण में सर्वोपरि भूमिका निभाई है, अतः यह शोभा उनको दी गई है। इसी प्रकार, श्यामाजी के स्वामित्व के जो 40 वर्ष है वे वि. सं. 1735 से 1775 तक होते हैं। इसमें 16 वर्ष श्री महामति जी के तथा 24 वर्ष श्री छत्रसाल जी के तन से पूर्ण होते हैं। इन 16 वर्षों में श्री महामति जी के तन से परमधाम की चारों किताबें, यथा खिलवत, परिक्रमा, सागर एवं सिनगार का अवतरण होता है तथा सुन्दरसाथ को यहां बैठे-बैठे परमधाम के 25 पक्षों का सुख प्राप्त होता है। इसी प्रकार, बीतक साहब की पद्मावती पुरी से अष्ट प्रहर की सेवा की लगभग एक-चौथाई चौपाईयों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में श्री छत्रसाल जी से हैं।

यदि यह संशय किया जाय कि जब श्री लालदास जी के तन से बीतक का लेखन कार्य प्रारम्भ हुआ था, उस समय श्री छत्रसाल जी द्वारा जागनी की कोई लीला नहीं हुई थी तो उन्हें तीनों स्वरूपों में कैसे माना जा सकता है। इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि श्री लालदास जी, जिनके तन में स्वयं अक्षरातीत श्री प्राणनाथ जी ने विराजमान होकर यह कार्य सम्पन्न किया था, की अन्तर्दृष्टि ने यह पहले से ही जान लिया था कि अब आगे की लीला श्री छत्रसाल जी के द्वारा होगी जिसका संकेत उन्होंने बीतक साहब में स्पष्ट रूप से कर दिया है :

साथ सौंप्या श्री राज को, जाहिर में श्री महाराज।

अब हम फिरत धाम को, तुम रहो सावचेत आज ॥(7/23)

महाराजा जी सों कहा, मैं देखत हों एक तुम।

तिस वास्ते सेवा साथ की, सौंप चलत हम ॥ (7/24)



2

मूर्ति/जड़ पूजा अभिशाप है

जब श्री देवचन्द्र जी की आयु मात्र साढ़े सौलह वर्ष की थी तो वे ज्ञान की खोज में कच्छ देश पहुंचते हैं। उनके मन में मात्र यही प्रश्न थे - मैं कौन हूं, कहां से आया हूं तथा इस शरीर व संसार को त्यागने के पश्चात् जाना कहां है? इनके समाधान के लिये वे विभिन्न मत-पंथों, यथा दत्तात्रेय, नाथ, कापड़ी इत्यादि में भटकते हैं। यहां तक कि अपनी आध्यात्मिक प्यास बुझाने के लिये वे मुस्लिम मौलवियों के पास भी जाते हैं। अंत में, वे वैष्णवों के चारों सम्प्रदायों - रामानुज, निष्वार्क, माधवाचार्य एवं विष्णुश्याम - के अनुयायियों के पास भी जाते हैं परन्तु ज्ञान चर्चा से पूर्णतया रहित तथा मंदिरों में होने वाले कोलाहलपूर्ण कर्मकाण्डों में उनका मन नहीं लगता। न ही उन्हें कोई विशेष अनुभूति हुई और न ही अन्तात्मा से कोई साक्षी मिली।

साथ ही, श्री देवचन्द्र जी जिस किसी भी पंथ के मंदिर गये, वहां देवी-देवताओं की मूर्तियां थीं तथा जड़ पूजा (आग, पत्थर, पानी, पेड़ आदि) का बोलबाला था। लेकिन श्री देवचन्द्र जी जानते थे कि उन्हें इनसे कुछ भी प्राप्त नहीं होने वाला है।

यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि लगभग 3,000 वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुई मूर्ति पूजा ने सम्पूर्ण हिन्दू जनमानस की बुद्धि को इतना जड़ बना दिया है कि कोई यह नहीं सोचता कि हमारे धर्मशास्त्रों में लिखा क्या है? समस्त हिन्दू समाज को ज्ञान,

भक्ति और वैराग्य से रहित कर आडम्बरों की प्रभुता स्थापित करने का श्रेय मूर्ति/जड़ पूजा को ही जाता है। कहीं कोई पत्थर का टुकड़ा नदी में बहता मिल गया तो उसे सालिग्राम मानकर सिर झुकाने लगते हैं। घर के आगे ईंट का चबूतरा बनाकर उसे अपना कुल-देवता मानने लगते हैं। कहीं कोई मजार देख ली तो उस पर सिर पटकना प्रारम्भ कर देते हैं। वृक्षों व नदियों की पूजा करते हैं परन्तु जिसने सारी सृष्टि को बनाया है उससे मुख मोड़ लिया। गीता कहती है - 'ईश्वरे सर्वभूतानम...' अर्थात् परमात्मा हृदय मन्दिर में बसता है। लेकिन दुनिया एक कारीगर द्वारा बनाई गई मूर्ति को, जिसमें तथाकथित प्राण-प्रतिष्ठा भी इंसान द्वारा ही की जाती है, को परमात्मा मानती है। यदि मंत्र पढ़कर एक पत्थर या धातु की मूर्ति में प्राण भरे जा सकते हैं तो क्यों नहीं हम मुर्दे को जीवित कर लेते? वास्तव में, हमने वेदों, उपनिषदों, गीता, दर्शनशास्त्रों आदि को नहीं देखा और मनमानी कल्पनाओं के आधार पर तरह-तरह के मत-पंथ बना लिये, सर्वशक्तिमान परमात्मा को मन्दिरों में बंद कर दिया तथा ज्ञान के सारे ताले बंद कर दिये ताकि हृदय में ज्ञान का प्रकाश न हो सके और न ही हमारा विवेक जाग्रत हो सके। इसी अंधकार से निकालने के लिये श्री प्राणनाथ जी की ब्रह्मवाणी आई है।

लेकिन यह खेद की बात है कि परमधाम की ब्रह्मात्माओं का दावा करने वाले हमारे समाज में भी दूसरों की देखा-देखी मूर्ति पूजा को भोले-भाले सुन्दरसाथ पर थोपा जा रहा है। वाणी में कहीं भी मूर्ति पूजा का विधान नहीं है। यदि ऐसा होता तो श्री प्राणनाथ जी के अन्तर्ध्यान के पश्चात् गुम्फ जी मन्दिर में श्री जी के सिंहासन पर वाणी को पधराने की क्या आवश्यकता थी? वहां भी उनकी मूर्ति स्थापित की जा सकती थी। वास्तव में हमारे मन्दिरों की कार्य-पञ्चति बिल्कुल भौतिकवादी हो गई है जिसमें अधिक से अधिक धन कमाना प्रमुख उद्देश्य हो गया है। धर्म के नाम पर श्रद्धा का व्यापार हो रहा है, जो किसी भी प्रकार से उचित नहीं है।

अब यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या वाणी चेतन है? यद्यपि तकनीकी रूप से इसमें चेतनता का कोई लक्षण विद्यमान नहीं है, तथापि यह हमारे लिये पूज्य तथा मार्गदर्शक है क्योंकि इसमें निहित ज्ञान स्वयं अक्षरातीत का है। हमारी भावना किसी तरह से युगल स्वरूप पर केन्द्रित हो, इसलिये वाणी को उनका ज्ञानमय स्वरूप माना जाता है। यदि ऐसा करके हम भावविह्वल हो जाते हैं तो उनका साक्षात्कार भी संभव है। इसके विपरीत मूर्ति एक कलाकार बनाता है, अतः मूर्ति की तुलना वाणी से नहीं की जा सकती।

श्री देवचन्द्र जी कच्छ देश में लगभग चार वर्ष तक रहते हैं लेकिन उन्हें अपन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिला। आखिर थक-हार कर वे वहां से भोजनगर आते हैं जहां उनकी भेट राधाबल्लभ मत के अनुयायी श्री हरिदास जी से होती है। उनके मन में कोई स्वार्थ की भावना नहीं थी। उनकी संगति में रहकर श्री देवचन्द्र जी ने भी उनकी प्रेमभरी सेवा की अटूट भावना देखी तथा उन्हें बहुत शांति मिली। उन्हें लगा कि जिस ज्ञान की खोज में वे वर्षों से भटक रहे हैं वह उन्हें श्री हरिदास जी से प्राप्त हो सकता है। वे शुद्ध मन, वाणी तथा कर्म से उनकी सेवा करने लगे। श्री देवचन्द्र जी की सच्ची लगन देखकर श्री हरिदास जी ने उन्हें दीक्षा देने का विचार किया।

श्री हरिदास जी के मन्दिर में दो मूर्तियां थीं - एक बाल मुकुन्द जी की एवं दूसरी बांके बिहारी जी की। उनकी निष्ठा इतनी अधिक थी कि वे मूर्ति को मूर्ति नहीं मानते थे तथा उनमें साक्षात् परमात्मा का भाव लेते थे। इसके बाद का घटनाक्रम कुछ इस प्रकार घटित होता है कि श्री हरिदास जी, श्री देवचन्द्र जी की निःस्वार्थ सेवा से प्रभावित होकर उन्हें बाल मुकुन्द जी की मूर्ति देने का निर्णय लेते हैं। लेकिन जब मूर्ति देने का दिन निर्धारित होता है तब बाल मुकुन्द जी की मूर्ति अपने स्थान से गायब हो जाती है। बाद में बाल मुकुन्द जी श्री हरिदास जी को साक्षात् दर्शन देकर श्री देवचन्द्र के स्वरूप की वास्तविक पहचान करते हैं तथा उन्हें बांके बिहारी जी के वस्त्रों की सेवा देने का आग्रह करते हैं।

यहाँ यह स्पष्ट करना वांछनीय है कि भोजनगर के उक्त प्रसंग से मूर्ति पूजा की किसी प्रकार से सार्थकता सिद्ध नहीं होती। मूर्ति में ईश्वर की भावना करना एक अलग बात है। उल्लेखनीय है कि स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने भी काली की मूर्ति के अन्दर परमात्मा की भावना से सेवा की थी लेकिन जब तक उनकी समाधि नहीं लगी, उन्हें साक्षात्कार नहीं हुआ।

सारांश रूप में यही कहा जा सकता है कि स्थूल जड़ पूजा का त्याग किये बिना अध्यात्म के चरम लक्ष्य को नहीं प्राप्त किया जा सकता। मूर्ति पूजा ने हिन्दू समाज को हजार वर्ष गुलामी की जंजीरों में जकड़े रखा है और जब तक यह परम्परा रहेगी, हमारे देश में आध्यात्मिक शिक्षा का न तो प्रसार हो पायेगा और न ही योगी, तपस्वी और परमहंस पैदा हो पायेंगे।



3

आत्म-चिंतन का महत्व

श्री

देवचन्द्र जी जब भोजनगर से नवतनपुरी पहुंचते हैं, तब उनकी आयु 24 वर्ष थी। यहां वल्लभाचार्य मत का बहुत अधिक प्रभाव था। कट्टरपंथी तथा छूआछूत को मानने वाले इस मत के अनुयायियों से श्री देवचन्द्र जी का सदैव विवाद रहता था। यद्यपि श्री हरिदास जी से दीक्षा लेने के कारण श्री देवचन्द्र जी पर भी इस मत का काफी प्रभाव पड़ा था, परन्तु वे उनका अंधाधुंध अनुसरण न कर अपना प्रत्येक निर्णय विवेकपूर्ण ढंग से लेते थे।

जब श्री देवचन्द्र जी श्यामजी के मन्दिर में निष्ठाबद्ध होकर कान्हजी भट्ट से भागवत कथा सुनने जाने लगे तो वहां भी वल्लभाचार्य मत के अनुयायियों ने उनका विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। श्री देवचन्द्र जी रोजाना भागवत कथा के रूप में आत्मिक आहार ग्रहण करने के पश्चात ही जलपान ग्रहण करते थे। उनकी ऐसी निष्ठा देखकर कान्हजी भट्ट तब तक कथा प्रारम्भ नहीं करते थे जब तक श्री देवचन्द्र जी आ नहीं जाते थे। यदि कभी भट्ट जी कथा प्रारम्भ भी कर देते थे तो श्री देवचन्द्र जी उनके घर जाकर उनसे छूटी हुई कथा को पुनः सुनाने का आग्रह करते थे। इस कारण वल्लभाचार्य मत के अनुयायियों से उनका द्वेष बढ़ता गया और वे श्री देवचन्द्र जी में कोई न कोई अवगुण ढूँढ़कर उन्हें नीचा दिखाने का अवसर तलाशते रहते थे।

शीघ्र ही उन्हें यह अवसर मिल भी गया। जैसाकि पूर्व में कहा जा चुका है कि श्री देवचन्द्र जी का नियम था कि वे भागवत कथा रूपी आत्मिक आहार लिये बिना स्वयं भी कुछ नहीं खाते थे। वल्लभाचार्य मत में एकादशी का उपवास रखा जाता है तथा द्वादशी के दिन भण्डारा होता है, जबकि श्री देवचन्द्र जी इसके बिल्कुल विपरीत एकादशी को भरपेट भोजन करते थे तथा द्वादशी के दिन उपवास रखते थे। ऐसा करने के पीछे उनका मत था कि चूंकि द्वादशी के दिन भागवत कथा नहीं होती थी और उन्हें आत्मिक आहार नहीं मिलता था, अतः वे भी भूखे रहते थे। उनका विचार था कि जब आत्मा को आहार नहीं मिले तो इस नश्वर शरीर को खिलाने से क्या लाभ है?

जब वल्लभाचार्य मत के उनके विरोधियों को यह पता चला कि श्री देवचन्द्र जी एकादशी के दिन तो भरपेट खाते हैं तथा द्वादशी को भण्डारे वाले दिन भूखे रहते हैं तो उन्होंने कान्हजी भट्ट से उनकी शिकायत की। उनके मतानुसार एकादशी के दिन उपवास रखना धार्मिक आचरण है जिसका श्री देवचन्द्र जी बिल्कुल पालन नहीं करते। इस पर कान्हजी भट्ट ने उन्हें कहा कि श्री देवचन्द्र जी जो भी करते हैं, वे विवेकपूर्ण निर्णय लेकर ही करते हैं।

श्री मद्भागवत ग्रन्थ परब्रह्म के द्वारा की जाने वाली आनन्द रस से भरपूर प्रेममयी लीला का वर्णन करता है, जिसका श्रवण करने के उपरान्त स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाले एकादशी के उपवास का कोई महत्व नहीं रह जाता। उल्लेखनीय है कि उस समय तक वाणी का अवतरण प्रारम्भ नहीं हुआ था।

वास्तव में व्रत और उपवास में अन्तर है - व्रत का तात्पर्य है किसी शुभ कार्य के लिये दृढ़ निश्चय करना, जबकि भोजन न करने को उपवास कहते हैं। तीज-चौथ के दिन भी हमें व्रत रखना चाहिये न कि उपवास। उस दिन हमें यह प्रण लेना चाहिये कि श्री प्राणनाथ जी के बताये मार्ग पर चलेंगे तथा कुलजम वाणी को जन-जन तक पहुंचाकर उनकी आत्म-जागृति का मार्ग प्रशस्त करना ही हमारा मूल लक्ष्य होना चाहिये।

बीतक के उक्त घटनाक्रम से हमें यह शिक्षा मिलती है कि श्री देवचन्द्र जी की तरह हमें कोई भी कार्य करने से पूर्व अपने विवेक का प्रयोग करना चाहिये। हमें रोजाना रात्रि को सोने से पूर्व आत्म-चिंतन करना चाहिये कि आज मैंने मन, वाणी और कर्म से कोई अनुचित कार्य तो नहीं किया और यदि किया है तो भविष्य में उसकी पुनरावर्ती नहीं होगी। वाणी में एक चौपाई आती है - 'एता मता तुमको दिया, सो जानत है तुम दिल; बेसक इल्मे न समझे, तो सहूर करो सब मिला।' अर्थात् महामति जी कहते हैं कि सुन्दरसाथ को मैंने रास से सिनगार तक का सम्पूर्ण ज्ञान देकर अध्यात्म के चरम लक्ष्य तक पहुंचा दिया है, फिर भी यदि आपको समझ नहीं आता है तो एकान्त में बैठकर आत्म-चिन्तन कीजिये कि इस संशयरहित ज्ञान का हमारे ऊपर कोई प्रभाव क्यों नहीं पड़ रहा है? यदि हम ऐसा करते हैं तो हमारी अन्तरात्मा से ही इसका उत्तर हमें मिल जाएगा। इसके लिये आवश्यकता पड़ने पर हमें प्रायश्चित स्वरूप अपने शरीर को दंडित भी करना पड़ सकता है। यदि हम ऐसा करते हैं तो हम भविष्य में कोई पाप नहीं करेंगे और उसके दुष्फल से बच जाएंगे। ध्यान रखिये, एकान्त में आत्म-चिन्तन करने वाला सदैव श्रेष्ठ कल्याण को प्राप्त होता है। अतः यदि हम जीवन में आत्म-चिंतन की यह प्रवृत्ति अपनाते हैं तो एक दिन अवश्य ऊँचाई पर पहुंचेंगे।



श्री देवचन्द्र जी को दर्शन

नवतनपुरी में श्री देवचन्द्र जी चौदह वर्षों तक निष्ठाबद्ध होकर भागवत कथा का श्रवण करते हैं जिसके पश्चात् अक्षरातीत श्री राज जी अपने आवेश स्वरूप से प्रकट होकर उन्हे श्याम जी के मन्दिर में दर्शन देते हैं तथा उनके धाम हृदय में विराजमान हो जाते हैं। परिणामस्वरूप उन्हें हृद से लेकर बेहद तथा उससे परे परमधाम के पच्चीस पक्षों का सम्पूर्ण दृश्य दिखाई देने लगता है। यह घटना संवत् 1678 आश्विन माह के कृष्ण पक्ष में रविवार को प्रातःकाल में घटित होती है। वह स्वरूप किशोर तथा अति सुन्दर था जिसने नित्य वृन्दावन में महारास की लीला की थी।

वय किशोर अति सुन्दर, स्वरूप खेला जो वृन्दावन।
देख श्री देवचन्द्र जी ने कहा, जैसी गवाही दई मन॥ (बीतक 6/27)

प्रायः भ्रान्तिवश उक्त चौपाई का अर्थ यह किया जाता है कि श्री देवचन्द्र जी को महारास की लीला करने वाले वृन्दावन बिहारी श्री कृष्ण जी ने दर्शन दिया था। किन्तु वास्तविकता यह है कि अक्षरातीत के जिस आवेश स्वरूप ने ब्रज-रास में लीला की थी, वही आवेश स्वरूप परमधाम के श्रृंगार में श्री देवचन्द्र जी के समक्ष प्रकट हुआ था जिसकी नवरंग स्वामी कृत सुन्दर सागर के प्रकरण 26 की चौपाई 6—8 साक्षी में मिलती है:

चरणी अंग केसरी चलकै, बागो स्वेत जडित रंग झलकै ।
 फैंटो नील पीत रंग रमकै, उपरैणी रंग आसमानी चमकै ॥
 पग रंग सिंदुरिए सोहै, कोटि कोटि जोत में जोहै ।
 रंग रंग में अनन्त रंग रंगे, तेज मे तेज उठै तंरंगै ॥
 सोभा कंहू मैं कहां लो केती, पूरण परसोतम धनी सेती ।
 खोल्यो ब्रज रास में जेही, साक्षात् स्वरूप विराजै तेही ॥

अर्थात् दर्शन देने वाले स्वरूप का वर्णी श्रृंगार था - सिन्दुरिया रंग की पाग, केशरिया रंग की इजार, आसमानी रंग की पिछौरी, श्वेत रंग का बागा तथा नीलो न पीलो बीच के रंग का पटुका - जो परमधाम में विराजमान श्री राज जी का है। जबकि 'रास' ग्रन्थ के प्रकरण 8 में वर्णित रास बिहारी का श्रृंगार अलग है:

पीड़ी ऊपर पायचा, ने झीणी कुरली झलवार।
 केशरिया रंग सूथनी, इन्द्रावती निरखे करार ॥ (चौ. 10)
 पीली पटोली पेहरी एक जुगते माहें विविध पेरे जड़ाव।
 जीवतणुं जीवन ज्यारे जोइए, त्यारे नव मुकाय लगार ॥ (चौ. 13)
 रंग सेंदुरिए पछेड़ी, अने माहें कसवनी भांत ।
 छेड़े तार ने कसनी कोरे, इन्द्रावती जुए करी खांत ॥ (चौ. 21)

अर्थात् रास बिहारी के श्रृंगार में केशरिया रंग की सूथनी है, जिसके पायचे में बारीक चुन्टें झलक रही हैं। पीले रंग की पटोली है तथा सिन्दुरिया रंग की पिछौरी है।

इसी प्रकार "मस्तक मुकट सोहामणो" (चौ. 37) का कथन यही दर्शाता है कि उनके सिर पर पाग नहीं बल्कि मुकुट है। श्री राज जी के धुंधराले बालों के स्थान पर रास बिहारी के बालों की चोटी गुंथी है जैसा कि चौपाई 43 के कथन - "बेण गूंथी एक नवल भांत नी" - से स्पष्ट है।

इसके अतिरिक्त बीतक में भी कहीं भी ऐसा वर्णन नहीं मिलता कि श्री देवचन्द्र जी को दर्शन देने वाला स्वरूप रास के श्रृंगार में था। प्रकरण 6 की चौपाई 27 में जो लिखा है कि “सरूप खेला जो वृन्दावन” - उसका अर्थ यह है कि जिस आवेश स्वरूप ने ब्रज-रास में लीला की थी, उसी आवेश स्वरूप ने परमधाम के श्रृंगार में आकर दर्शन दिया।

यहाँ यह भी प्रश्न उठता है कि श्री देवचन्द्र जी को रास बिहारी क्यों दर्शन देंगे? “पिया किए अति प्रसन्न, तीन बेर दिए दर्शन” - जब श्री राज जी ही सिपाही एवं ब्रज बिहारी के भेष में आते हैं तो तीसरी बार रास बिहारी क्यों आयेंगे? केवल ‘सुन्दर सागर बीतक’ में वर्णित किया गया है कि पहले श्री देवचन्द्र जी को श्री राज जी का परमधाम वाला श्रृंगार दिखाई दिया और बाद में रास बिहारी का। लेकिन श्रृंगार दिखाई देना तथा श्रृंगार करने वाला दोनों अलग-अलग बातें हैं। अतः यही कहा जा सकता है कि श्री राज जी ने ही देवचन्द्र जी को दर्शन दिया। सत्य तो यह है कि श्री राज जी का स्वरूप कहीं आता-जाता नहीं है - “हमको खेल दिखावन काज, हमसो आगे आये श्री राज।” वस्तुतः श्री राज जी हम आत्माओं से कभी अलग नहीं हो सकते। वे हर पल श्यामा जी की आत्मा में भी विराजमान हैं। यह बात अलग है कि इस जागनी के ब्रह्माण्ड में लीला रूप में अब विराजमान होते हैं।

इस सम्बन्ध में एक अन्य भ्रान्ति यह भी है कि श्री देवचन्द्र जी को श्री राज जी के दर्शन भागवत श्रवण के कारण हुआ था। परन्तु ऐसा नहीं है। यदि भागवत श्रवण से दर्शन हो जाते हैं तो इसके रचयिता व्यास जी को क्यों दर्शन नहीं हुए? श्री देवचन्द्र जी ने चौदह वर्ष भागवत सुनी परन्तु कान्ह जी भट्ट तो सारी उप्र भागवत सुनाते रहे लेकिन उनको कभी भी श्री राज जी का दर्शन नहीं हुआ। वास्तविकता तो यह है कि श्री राज जी ने श्री देवचन्द्र जी को निसबत व मूल सम्बन्ध के कारण दर्शन दिया। इससे पूर्व भी जब श्री देवचन्द्र जी को दो बार दर्शन हुआ था तब उन्होंने कोनसी भागवत सुनी थी - पहली बार विरह में तड़फे तो दर्शन हुआ और दूसरी बार चितवनी की तो दर्शन हुआ।

जब श्री देवचन्द्र जी के तन में श्री राज जी विराजमान हो जाते हैं तब उनके मुख से एक चौपाई अवतरित होती है - “निजमान श्री कृष्ण जी, अनादि अक्षरातीत, सो तो अब जाहेर भए, सब विध वतन सहीत।” अर्थात् जिस अक्षरातीत ने ब्रज-रास में श्री कृष्ण के नाम से लीला की थी तथा जो अनादि हैं व अक्षर से भी परे हैं, अब अपने परमधाम के सम्पूर्ण ज्ञान, शोभा तथा आनन्द के साथ मेरे धाम हृदय में प्रकट हो गये हैं।

यह मान्यता पूर्णतः भ्रान्तिपूर्ण है कि दर्शन के समय श्री राज जी श्री देवचन्द्र जी से कहते हैं कि मेरा नाम श्री कृष्ण है और मैं अनादि हूँ तथा अक्षर से परे अक्षरातीत हूँ।

अन्त में, यही कहा जा सकता है कि हमें शब्दों/नामों के विवाद में नहीं पड़ना चाहिये। पारम्परिक रूप से “निजनाम श्री कृष्ण जी” का तारतम्य मान्य है तथा इसे ही प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में लिखा जाता है किन्तु सनंघ वाणी (प्र. 42 चौ. 16) के अनुसार “कोई दूजा मरद न कहावहीं, एक मेंहेदी पाक पूरन” अर्थात् श्री प्राणनाथ जी के अतिरिक्त इस जागनी ब्रह्माण्ड में कोई दूसरा अक्षरातीत नहीं हो सकता।



5

चितवनी का महत्व

नवतनपुरी की लीला के दौरान एक प्रसंग यह आता है जब श्री मिहिरराज सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी से हठपूवर्क कहते हैं कि “जब आपको परमधाम दिखता है तो मुझे क्यों नहीं दिखता?” उल्लेखनीय है कि सद्गुरु महाराज और श्री मिहिरराज का मिलाप वि. सं. 1687 में हुआ था। उस समय श्री मिहिरराज की आयु मात्र 12 वर्ष से कुछ अधिक थी। यह मिलाप उनके बड़े भाई गोर्वधन ठाकुर के कारण हुआ जो धनी श्री देवचन्द्र जी की चर्चा सुनने जाते थे। तत्पश्चात् श्री मिहिरराज भी उनके साथ नित्य प्रति जाने लगे क्योंकि इससे उन्हें मन में बहुत आनन्द का अनुभव होता था। पच्चीस वर्ष की आयु तक वे चर्चा का रसपान करने के साथ कुछ लौकिक दायित्वों का निर्वहन भी किया करते थे। इस बीच वि. सं. 1695 में उनका फूलबाई जी से विवाह भी हुआ।

बड़े भाई गोर्वधन जी के धामगमन के पश्चात् श्री मिहिरराज का मन पूरी तरह से संसार से हट गया। एक दिन अचानक उनके मन में विचार उपजा कि जब सद्गुरु महाराज परमधाम के पच्चीस पक्षों की शोभा को साक्षात् देखकर सबके समक्ष उनका वर्णन कर सकते हैं तो मैं ऐसा क्यों नहीं कर सकता? आखिर मैं भी तो उसी परमधाम से आया हूँ जहाँ हमारा मूल तन विद्यमान है जो अनादि काल से लीला कर रहा है। मेरे प्राणेश्वर अक्षरातीत, जिनकी मैं अंगना हूँ, मुझे क्यों नहीं दर्शन कराते? फिर उन्हें लगने लगा कि शायद उनके अन्दर ही मायाजनित विकार हैं

जिन्हें यदि वे निकाल देंगे तो सम्भवतः उन्हें परमधाम दिखाई देने लगेगा। इसके पश्चात् उन्होंने कठोर साधना प्रारम्भ कर दी तथा अपना आहार भी नाममात्र का कर लिया। इससे उनका शरीर सूख कर कांटा हो गया। उन्होंने अपनी पत्नी के समस्त आभूषण भी माया का स्वरूप जान कर सद्गुरु महाराज के चरणों में समर्पित कर दिये। तब श्री देवचन्द्र जी ने उन्हें कहा कि निःसंदेह तुम परमधाम की आत्मा हो और तुम्हारे तन से ही जागनी की लीला होनी है। परन्तु अभी चूंकि श्री राज जी मेरे तन से लीला कर रहे हैं, अतः तुम्हें प्रत्यक्ष रूप से दर्शन नहीं हो सकते। मेरे पश्चात् जब वे तुम्हारे तन से लीला करेंगे तो तुम उनके दर्शन कर सकोगे। हाँ, चितवनी में अवश्य उनकी झलक मिल सकती है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या स्वंय को निर्विकार करने के लिये एवं आत्मा को जगाने के लिये अपने शरीर को कष्ट देना उचित है? क्या हठ योग से परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं? इसका उत्तर ‘न’ ही होगा। यह स्वंय पर किया जाने वाला एक प्रकार से अत्याचार है जैसाकि बीतक साहब की एक चौपाई (14 / 16) में स्पष्ट रूप से कहा गया है:

**तिस वास्ते अपने मन पर, करते बड़ा जुलम।
कस्त अपने आकार को, जगावें अपनी आतम।**

वस्तुतः मन अपनी पाँच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) रूपी लौकिक सुखों का उपभोग करता है। मन को निर्विकार बनाने हेतु उसे इन लौकिक सुखों से बलपूर्वक रहित कर देना स्वयं के ऊपर जुल्म करने के समान है। यह हठ योग का मार्ग है, जिसके द्वारा किसी भी स्थिति में परम तत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह केवल तारतम ज्ञान के प्रकाश में हृदय में विशुद्ध विरह प्रेम के जाग्रत होने पर ही सम्भव होता है जब लौकिक सुखों से आसक्ति स्वतः ही समाप्त हो जाती है तथा मन भी निर्विकार हो जाता है। तत्पश्चात् चितवनी के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार भी किया जा सकता है। इसके बाद श्री मिहिरराज का मन

भी न केवल शांत हो गया बल्कि चितवनी के द्वारा उन्होंने परमधाम के पच्चीस पक्षों की झलक भी पा ली तथा मूल-मिलावे में बैठी अपनी परात्म को भी देख लिया।

बीतक का यह घटनाक्रम हमें यह शिक्षा देता है कि यहाँ बैठे-बैठे युगल-स्वरूप तथा परमधाम का दीदार एक मात्र प्रेममयी चितवनी के द्वारा ही सम्भव है। चितवनी की गहराईयों में डूबकर ही हम परमधाम व युगल-स्वरूप के साक्षकार के अपने मूल लक्ष्य को इस संसार में रहते हुए प्राप्त कर सकते हैं। कभी-कभी वाणी पढ़कर, विशेषकर सागर, श्रुंगार, परिक्रमा व खिलवत ग्रन्थों के चिन्तन-मनन से हमे यह आभास होता है कि धामधनी हमारे पास ही हैं परन्तु जब तक हमारी आत्मिक दृष्टि नहीं खुल जाती, उसे चितवनी की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अतः हमें यदि शाश्वत आनन्द के शिखर पर पहुँचना है तो इसके लिये प्रेममयी चितवनी के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं है।



6

पाप की कमाई

वि.

सं. 1703 में श्री मिहिरराज सदगुरु धनी श्री देवचन्द्र के आदेश से अरब जाते हैं। अरब में गांगजी भाई के छोटे भाई खेता भाई रहते थे, जो अति धनवान थे। दरअसल, गांगजी भाई के निवास पर सदगुरु महाराज द्वारा होने वाली चर्चा में सुन्दरसाथ की सेवा पर काफी धन व्यय होता था जिसका सम्पूर्ण भार गांगजी भाई पर ही था। अतः यह विचार कर कि यदि खेता भाई का कुछ धन यहाँ आ जाता है तो आर्थिक बोझ कम हो जायेगा, श्री मिहिरराज सदगुरु महाराज के आदेश को शिरोधार्य कर अरब की यात्रा पर प्रस्थान करते हैं और नाव से चालीस दिन की यात्रा के पश्चात वहाँ पहुँचते हैं। श्री मिहिरराज से मिलकर खेता भाई बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने श्री मिहिरराज को अपने व्यवसाय का कुछ कार्यभार भी सौंप दिया। इस बीच श्री मिहिरराज ने खेता भाई को तारतम ज्ञान भी दिया तथा प्रार्थना कि वे अब सदगुरु महाराज के चरणों में नवतनपुरी चलें जहाँ उनको आत्मिक शान्ति मिल सके। परन्तु खेता भाई पर इन सब बातों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

दुर्भाग्यवश खेता भाई का निधन हो जाता है तथा उनकी सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति पर वहाँ के बादशाह का एक हाकिम शेख सल्लाह अधिकार कर लेता है। दरअसल, शेख सल्लाह एक कट्टरपंथी मुस्लिम था तथा उसको यह सहन नहीं था कि कोई गैर-मुस्लिम उसके देश से अपनी सम्पत्ति हिन्दुस्तान ले जाय।

तत्पश्चात्, श्री मिहिरराज मस्कत जाकर बादशाह से उसकी शिकायत करते हैं जो शेख सल्लाह को हड़पी हुई सारी धन-सम्पति श्री मिहिरराज को लौटाने का आदेश देते हैं। परन्तु शेख सल्लाह के मन से पाप नहीं गया तथा उसने सारे गोदामों में आग लगवा दी, जिससे सबकुछ जलकर राख हो गया।

खेता भाई के निधन का समाचार सुनकर सदगुरु महाराज बिहारी जी और श्याम जी को श्री मिहिरराज की सहायता के लिये अरब भेजते हैं। यद्यपि श्री मिहिरराज ने उन्हें खेता भाई की सम्पूर्ण सम्पति का लेखा-जोखा सौंप दिया परन्तु उनके मन में पाप भरा था। जब वे दोनों सारी सम्पति लेकर वापस नवतनपुरी लौटते हैं तो उसे छिपा देते हैं तथा श्री मिहिरराज पर दोष लगा देते हैं कि उन्होंने उन्हें कुछ भी नहीं दिया। जब सदगुरु महाराज तथा गांगजी भाई को उनकी बातों पर विश्वास नहीं हुआ तो उन्होंने अपनी बुआ बालबाई को उकसा कर जाम राजा को शिकायत करवा दी कि श्री मिहिरराज उनके भाई का धन हड़प कर अरब से लौट रहे हैं जो उनसे जब्त कर या तो गांगजी भाई को सौंप दिया जाए या राजकोष में जमा कर दिया जाय। अतः जैसे ही श्री मिहिरराज नवतनपुरी पहुँचे, राजा के सैनिकों ने जो कुछ शेष धन उनके पास था, उसे सरकारी खजाने में जमा कर लिया।

यद्यपि बाद में श्री मिहिरराज को दोषमुक्त कर छोड़ दिया गया परन्तु खेता भाई की सम्पूर्ण सम्पति का एक भी अंश धर्म और सुन्दरसाथ के काम नहीं आ सका। आखिर ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि वो कमाई पाप की थी। वास्तव में खेता भाई ने अरब में जो भी धन कमाया था वो ईमानदारी से नहीं कमाया था। याद रखिये, धर्मपूर्वक कमाया जाने वाला धन अर्थ कहलाता है तथा जो अधर्म से कमाया जाता है वह अनर्थ कहलाता है जो दो पीढ़ियों के पश्चात् नहीं रहता। पाप से लक्ष्मी घटे, कहे संत कबीर। हमारे देश में यदि इस बात पर गंभीरतापूर्वक मनन किया जाय तो यहाँ भ्रष्टाचार पूर्णरूप से समाप्त हो सकता है। अन्यायपूर्वक किसी का धन लूटकर कोई भी व्यक्ति धनवान नहीं हो सकता। केवल धर्मपूर्वक कमाया हुआ धन ही आपके

पास टिका रहेगा अन्यथा आपकी संतान ही उसे बर्बाद कर देगी। याद रखिये, लक्ष्मी कभी भी एक स्थान पर नहीं रहती और वह वहीं रहेगी जहाँ धर्म होगा। हम लोग दीपावली को लक्ष्मी की पूजा तो अवश्य करते हैं परन्तु उन गुणों पर नहीं चलते जिससे लक्ष्मी हमारे पास आये। विदेश में लोग लक्ष्मी की पूजा नहीं करते परन्तु वे परिश्रम करते हैं तथा साहस दिखाते हैं, इसलिये वे धनवान होते हैं। कोई भी अकर्मण्यता या अंधविश्वास आपको धनवान नहीं बना सकता, केवल आपका पुरुषार्थ ही आपको धनवान बनायेगा। यदि आप धर्मानुकूल आचरण करेंगे तो अर्थ आपके पीछे-पीछे चलेगा।

उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल में भारत सोने की चिड़िया कहलाता था। यहाँ इतना अधिक सोना-चाँदी था कि जिसे लूटने के लिये इसपर अनेक आक्रमण भी हुए। इसका प्रमुख कारण यह था कि उस समय यहाँ भ्रष्टाचार व अन्याय नहीं था। लोग धर्मपूर्वक आचरण करते थे तथा दूसरे के धन को मिट्टी के समान समझते थे। आज की परिस्थिति में भी यदि यहाँ ऐसा हो जाय तो हमारा देश पुनः सोने की चिड़िया बन सकता है तथा रामराज्य की तरह यहाँ कोई भी निर्धन नहीं रहेगा। जिस देश में लोग अपराध और मांसाहार बंद कर दें तथा ईमानदारी और परिश्रम से कमाने लगे तो वहाँ किसी के भी गरीब होने का प्रश्न ही नहीं उठता और चारों ओर खुशहाली का साम्राज्य होगा। याद रखिये, किसी भी देश में सम्पन्नता तब तक नहीं आ सकती जब तक वहाँ के लोगों को नैतिकता का पाठ नहीं पढ़ाया जाय। सृष्टि को धारण करने वाला धर्म है तथा धर्म के जो लक्षण हैं उनको आचरण में लाये बिना कोई भी समाज सुखी तथा वैभवशाली नहीं बन सकता।

अतः बीतक के इस घटनाक्रम से हमें यही शिक्षा मिलती है कि हम सदैव धर्मानुकूल आचरण तथा नैतिकता से परिश्रम तथा पुरुषार्थ कर धन कमायें अन्यथा यह धन हमारे लिये किसी काम नहीं आयेगा और दुख का कारण बनेगा।



गादीवाद : एक अभिशाप

वि.

सं. 1712 में सद्गुरु श्री देवचन्द्र जी के अन्तर्ध्यान के पश्चात् अधिकांश सुन्दरसाथ पुनः माया की ओर उन्मुख हो जाता है, क्योंकि उन्हें सद्गुरु महाराज के तन के नाम तथा उनके द्वारा की जाने वाली आड़िका लीला पर अधिक विश्वास था। चूंकि उस समय वाणी अवतरित नहीं हुई थी, अतः उन्हें मूल स्वरूप, आत्मा, परात्म और परमधाम का ज्ञान नहीं था। न ही उन्होंने सद्गुरु महाराज के धाम हृदय में आवेश स्वरूप से विराजमान श्री राज जी और उनसे अपने मूल सम्बन्ध को पहचाना था। वस्तुतः जब तक तारतम वाणी के प्रकाश में धनी से अखण्ड सम्बन्ध का बोध न हो, तब तक आड़िका लीला की चकाचौंध में होने वाली मात्र श्रद्धा भावना को जागनी की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यहीं कारण था कि सद्गुरु महाराज के अन्तर्ध्यान होते ही चर्चा-चितवनी पूर्णतः समाप्त हो गई और सभी सुन्दरसाथ पुनः माया में घुल-मिल गये।

ऐसी स्थिति में बालबाई को यह चिंता सताने लगी कि यदि ऐसे ही चलता रहा तो धीरे-धीरे सद्गुरु श्री देवचन्द्र जी, जिनके अन्दर स्वयं अक्षरातीत ने आवेश-स्वरूप से विराजमान होकर लीला की है, की महिमा समाप्त हो जायेगी और जागनी कार्य को भी विराम लग जायेगा। परन्तु यह चिन्ता मात्र दिखावटी थी। वास्तव में वे श्री देवचन्द्र जी के पुत्र बिहारी जी को धार्मिक क्षेत्र का समस्त अधिकार

व उत्तरदायित्व सौंपना चाहती थी। चूंकि उन्हें यह भी ज्ञात था कि सद्गुरु महाराज ने अपना तन त्यागने से पूर्व बाईस दिन श्री मिहिरराज को आध्यात्मिक ज्ञान की समस्त बातें बताकर स्पष्ट कर दिया था कि सुन्दरसाथ की जागनी उनके तन से ही होगी, अतः उन्होंने श्री मिहिरराज से औपचारिक रूप से इस विषय में विचार-विमर्श करना उचित समझा। दरअसल उन्हें पूर्ण विश्वास था कि श्री मिहिरराज इसके लिये कभी भी मना नहीं करेंगे। और हुआ भी यही। न केवल स्वयं श्री मिहिरराज इसके लिये तुरन्त तैयार हो गये बल्कि उन्होंने समस्त सुन्दरसाथ को भी मना लिया। फिर वि. सं. 1712 में आश्विन महीने में बिहारी जी का गादी अभिषेक किया गया तथा श्री मिहिरराज ने सर्वप्रथम उनके चरणों में प्रणाम किया। उस दिन से बिहारी जी महाराज गादी पर विराजमान होकर नियमित रूप से प्रातः और सांय चर्चा करने लगे। यह बात दूसरी है कि वे परमधाम की चर्चा के नाम पर मात्र लौकिक बातें ही सुनाया करते थे और इसमें सुन्दरसाथ को कोई रस भी नहीं आता था। बिहारी जी की चर्चा के पश्चात् श्री मिहिरराज सुन्दरसाथ को परमधाम की चर्चा सुनाते थे जिसमें मूलतः युगल-स्वरूप के शोभा-शृंगार का ही उल्लेख होता था।

बीतक साहब का उक्त घटनाक्रम ही हमारे समाज में गादीवाद के प्रसार का प्रमुख आधार बना हुआ है जिसे इस प्रथा के समर्थक उसके समर्थन में सामान्यतः उद्धृत करते हैं। इसके साथ प्रायः यह भी तर्क दिया जाता है कि श्री मिहिरराज ने ही पहल की थी। परन्तु जैसा कि हमने पूर्व में स्पष्ट किया है कि श्री मिहिरराज ने ऐसा बालबाई के आग्रह पर शिष्टाचारवश एवं बिहारी जी को गुरु पुत्र जान कर किया था। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि श्री मिहिरराज गादी प्रथा के समर्थक थे और न ही सद्गुरु महाराज ने अपने धामगमन से पूर्व ऐसी कोई इच्छा प्रकट की थी क्योंकि वे जानते थे कि उनके पश्चात् जागनी कार्य श्री मिहिरराज के तन से ही होना है।

वस्तुतः रुई और काठ की गादी में कोई दिव्य शक्ति नहीं होती। यदि ऐसा होता तो बिहारी जी ने गादी पर बैठने के पश्चात् परमधाम की चर्चा क्यों नहीं की? न उन्होंने स्वयं परमधाम देखा न किसी को दिखाया। गादी पर बैठने मात्र से यदि परमधाम के दर्शन हो जाय तो चितवनी की क्या आवश्यकता है? आज हमारे समाज में यही अंधविश्वास घर कर गया है कि जो गादी पर बैठ जाता है वह श्री राजजी का ही स्वरूप है तथा अब तो उसकी पूजा-आरती भी होने लगी है। वर्तमान में सारी महिमा गादी की हो गई है तथा वाणी कहीं न कहीं गौण होती जा रही है। हर कोई गादी के पीछे भागा जा रहा है तथा उस पर बैठने के लिये विभिन्न प्रकार के व्यवहार कौशल तथा दक्ष प्रयोग किये जाने लगे हैं। याद रखिये, समाज में शोभा व प्रतिष्ठा लेने की भावना उसी में होती है जिसका व्यक्तित्व आध्यात्मिकता में नहीं रंगा होता। गादी में न तो अक्षरातीत मिले हैं और न ही मिलेंगे, हमें उन्हें अपने धाम हृदय में ही खोजना होगा। जो समाज गादी पूजा को बढ़ावा देता है, उसे परमधाम का प्रकाश कैसे मिलेगा – यह विचारणीय विषय है।

आज हमारे समाज में दो विचारधारायें चल रही हैं – एक ब्रह्मवाणी के समर्थन में तथा दूसरी गादीवाद के समर्थन में। जहाँ ब्रह्मवाणी के समर्थक इसके कथन को श्री राज जी का कथन स्वीकार कर अंतिम सत्य मानते हैं, वहीं गादीवाद के समर्थकों का मत है कि जो गादीपति महाराज ने कह दिया, वही अन्तिम सत्य है। दूसरे शब्दों में, आज समाज में व्यक्ति विशेष एवं स्थान विशेष का महत्व अधिक हो गया है और श्री प्राणनाथ जी और उनकी वाणी को किनारे कर दिया गया है। यही नहीं, स्वयं को श्री प्राणनाथ जी और श्री देवचन्द्र जी के न केवल समकक्ष माना जाता है बल्कि कई बार तो उनसे विशिष्ट भी माना जाता है। इसी से समाज में भटकाव प्रारम्भ हो गया है तथा सुन्दरसाथ में परस्पर विभाजन रेखा खिंचती चली जा रही है। स्मरणीय है कि जब तक हमारे हृदय में युगल-स्वरूप के चरण-कमल नहीं पड़ेंगे, हमारी आत्मा जाग्रत नहीं हो सकती। सुन्दरसाथ की जमात में सभी

सुन्दरसाथ हैं - हमें सभी को आत्मिक दृष्टि से देखना होगा। सुन्दरसाथ - अर्थात् जो सुन्दरबाई श्री श्यामा जी द्वारा लाये तारतम ज्ञान का अनुकरण करता है, चाहे वह कोई भी सृष्टि हो। ठीक है, यदि किसी के पास विद्वता आ गई है और वे किसी स्थान के गादीपति महाराज बन गये हैं तो उनका सम्मान कीजिये परन्तु श्री राज जी की बैठक तो सबके हृदय में समान रूप से है, इसलिये कोई छोटा-बड़ा नहीं है।

यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो पायेंगे कि विश्व में जितने भी पथ आगे बढ़े हैं, उनके पीछे मुख्यतः भक्ति, ज्ञान और पुरुषार्थ ही रहा है। हमारे समाज में भी यदि वाणी को हटा दीजिये तो गादी में कुछ नहीं रखा है। गादी प्रथा ने ही समाज को अकर्मण्य बना दिया है क्योंकि ऐसी मान्यता चल पड़ी है कि जो गादीपति महाराज नहीं कर सकते, वो कोई नहीं कर सकता। यही नहीं, इससे ब्रह्म ज्ञान का प्रचार-प्रसार भी रुक गया है क्योंकि व्यक्तिगत महिमा सर्वोच्च हो गई है। यही कारण है कि हमारे पास ब्रह्मवाणी की धरोहर होने के पश्चात् भी हम प्रगतिशील समाजों की श्रेणी में नहीं आ सके हैं।

न केवल गादीवाद, बल्कि स्थानवाद और जड़तावाद भी किसी समाज की आध्यात्मिक प्रगति में बाधक हैं। यदि किसी समाज में सत्य को ग्रहण करने की प्रवृत्ति नहीं है तथा उसमें व्यक्ति/स्थान विशेष को प्राथमिकता दी जाती है, तो उसमें भटकाव निश्चित है। आज हमारे समाज में ये तीनों विकृतियां घर कर गई हैं। चित्र, खड़ोंऊ एवं समाधि पूजा जड़ पूजा का ही रूप है। परमहंसों के चित्रों का सम्मान करने में कोई आपत्ति नहीं है परन्तु पूजा-आरती केवल श्री राज जी की वाणी की ही होनी चाहिये। इसी प्रकार, यदि किसी स्थान विशेष से ब्रह्म ज्ञान का प्रसार हुआ है तो उसकी महत्ता है परन्तु उसे सर्वोच्च मानना कदापि उचित नहीं है। याद रखिये, आध्यात्मिक सम्पदा गादी पर बैठने मात्र से नहीं बल्कि त्याग, प्रेम, विरह, वैराग्य और समर्पण से प्राप्त होती है। जिनके पास इन गुणों का अभाव है, उन्हें चाहे कितने भी ऊँचे सिंहासन पर बैठा दीजिये, इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ने वाला।

अब वाणी का प्रकाश अवतरित हो चुका है, अतः छठे दिन की लीला में गादी का कोई महत्व नहीं रह गया है। स्वयं महामति श्री प्राणनाथ जी ने अपने अन्तर्ध्यान के पश्चात् गुम्फ जी में वाणी को पथराया था ताकि आने वाले समय में किसी प्रकार का संशय नहीं रहे। यह वाणी महामति जी के धाम हृदय में स्वयं अक्षरातीत श्री राज जी ने विराजमान होकर कही है- “श्री मुखवाणी धनिये कही, कहने की शोभा कालभूत को दई।” श्री महामति जी ने भी स्वयं कहा है- “जिन कोई दियो महामति को दोष, ए वचन महामति से प्रकट न होए।” अर्थात् ये वचन न तो महामति के हैं, न ही इन्द्रावती के और न ही मिहिरराज के बल्कि मूल स्वरूप धाम धनी श्री राज जी के हैं। प्रत्येक प्रकरण के अंत में जो उनका नाम आता है वह छाप मात्र है। इसलिये, कोई भी व्यक्ति कितना भी बड़ा ज्ञानी, प्रभावशाली और उच्च पदस्थ हो, उसके कथन को प्राथमिकता नहीं देनी चाहिये। याद रखिये, कोई भी समाज, संस्था या व्यक्ति तारतम वाणी से ऊपर नहीं हो सकता।

सार रूप में, यही कहा जा सकता है कि हमारी शोभा श्री प्राणनाथ जी तथा उनकी वाणी से है। यदि हम संसार में इनकी गरिमा बढ़ायेंगे तो हमारी गरिमा स्वतः ही बढ़ेगी- “पहले मोको सब जानसी, तब होसी तुम्हारी पहचान।” आप श्री प्राणनाथ जी की महिमा को जाहिर कीजिये, आप स्वयं जाहिर हो जायेंगे। परन्तु, यदि आप केवल अपनी महिमा गाते रहेंगे तो कहीं के नहीं रहेंगे- “इन जिमी में साथ जी, जिन्होंने की सिरदारी, सो पुकार पुकार पछताये चलें जिन्हों जीत के बाजी हारी। “आप श्री प्राणनाथ जी की महिमा गाईये, दुनिया आपकी गायेगी- “जो मेरी सुध देओ ओर को तो चले तुम्हारा हुकम।”

अतः आज के परिप्रेक्ष्य में हमें समझना होगा कि हमारे लिये कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है - गादीवाद का या ब्रह्मवाणी का?



8

आत्म-जाग्रति एवं मेले-भंडारे

वि.

सं. 1712 के आश्विन माह में श्री बिहारी जी महाराज को गादी पर विराजमान करने के पश्चात् सर्वप्रथम श्री मिहिरराज जी ने उनके चरणों में प्रणाम किया। उन्होंने सुन्दरसाथ को तीखे शब्दों से खण्डनी कर समझाया कि चूंकि अब श्री बिहारी जी गादीपति हैं, अतः हमें उनके प्रति श्रद्धा भावना रखनी चाहिए। उस दिन से श्री बिहारी जी प्रातः और सांय दो समय चर्चा करने लगे, जिसे सुनने सुन्दरसाथ पूर्व की भाँति नियमित रूप से आने लगे। यह बात दूसरी है कि चर्चा के नाम पर श्री बिहारी जी लौकिक बातें ही किया करते थे।

वस्तुतः श्री बिहारी जी में तारतम ज्ञान का यर्थाथ प्रकाश नहीं हो पाया था, क्योंकि उन्होंने निष्ठाबद्ध होकर कभी भी सद्गुरु महाराज से चर्चा नहीं सुनी थी। अक्षरातीत व परमधाम के सम्बन्ध में उन्हें जो सामान्य बातें मालूम थीं, उनको लौकिकता के साथ जोड़कर वे चर्चा किया करते थे। चूंकि सुन्दरसाथ को इसमें विशेष रस नहीं आता था, अतः वे श्री मिहिरराज जी से एकान्त में पुनः चर्चा सुनते थे। इससे सबकी सुरता माया से हटकर पुनः परमधाम की ओर लगने लगी एवं सबको अखण्ड शांति मिली।

श्री मिहिरराज जी के मुखारबिंद से चर्चा सुनकर समस्त सुन्दरसाथ को यह बोध हो गया कि उनके धाम हृदय में ही साक्षात् सद्गुरु महाराज आकर

विराजमान हो गये हैं। इसके अतिरिक्त श्री मिहिरराज जी की भी अन्तर्दृष्टि जाग्रत हो गई तथा धीरे-धीरे प्रियतम श्री राज जी की पहचान से सम्बन्धित गुत्थियां सुलझने लगी तथा उनके हृदय में परमधाम की अखण्ड शांति की सुगन्धि आने लगी। उन्हें अनुभव होने लगा कि यह माया का खेल मात्र है तथा हम मूल-मिलावे में धनी के चरणों में बैठें हैं तथा वे हमारी प्राणनली से भी अधिक नजदीक हैं।

तत्पश्चात् श्री मिहिरराज जी के हृदय में आनन्द की उमर्गें उठने लगीं। उन्हें लगने लगा कि यह सुनहरा अवसर है तथा उन्हें सुन्दरसाथ की सेवा करनी चाहिए ताकि वे आनन्द विभोर रहें। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये उन्होंने ‘सावधानीपूर्वक’ लौकिक कार्यों के द्वारा धन उपार्जन का निश्चय किया - सावधानीपूर्वक अर्थात् पूर्णतया अनासक्त भाव से तथा बिना किसी छल-कपट के उतना ही जितना आवश्यक था। उल्लेखनीय है कि यह समस्त संसार गोविन्द भेड़े की बनाई हुई भूत नगरी के समान मिथ्या है जहाँ परब्रह्म के ज्ञान और प्रेम की राह के अतिरिक्त प्रत्येक कार्य का फल नश्वर होता है किन्तु अर्थोपार्जन एवं जीवनयापन के लिये इससे सम्बन्ध रखना ही पड़ता है। ज्ञान के अभाव में जहाँ अधिकांश लोग इसमें फंस जाते हैं, वर्हीं तारतम ज्ञान के प्रकाश से दृष्टा होकर सांसारिक कर्मों को करते हुए भी माया से पूर्णतया अलग रहा जा सकता है। अतः श्री मिहिरराज जी ने सुन्दरसाथ की सेवा हेतु वजीर के दीवान का पद तो संभाल लिया, परन्तु उन्होंने उसमें जरा भी आसक्ति नहीं रखी। उनका प्रमुख उद्देश्य था कि इस मायावी खेल में सुन्दरसाथ की सेवा करने का जो सुनहरा अवसर मिला है, उसे गंवाना नहीं चाहिए क्योंकि परमधाम में यह पुनः मिलने वाला नहीं है। इसके साथ ही वे चाहते थे कि इसी बहाने सुन्दरसाथ को चर्चा तथा चितवनी के रस में डुबोया जा सके, जो उनकी आत्म-जाग्रति के लिये नितान्त आवश्यक था। लेकिन दुर्भाग्यवश श्री मिहिरराज जी सुन्दरसाथ की सेवा की अपनी इस आकांक्षा को पूर्ण नहीं कर सके क्योंकि श्री बिहारी जी को सुन्दरसाथ में श्री मिहिरराज जी का बढ़ता हुआ प्रभाव

सहन नहीं हुआ और जैसे ही श्री मिहिरराज ने उत्सव के लिये सारा सामान अपने घर पर एकत्रित करना प्रारम्भ किया, श्री बिहारी जी ने द्वेषवश जामनगर के मंत्री से उनकी झूठी शिकायत कर दी कि श्री मिहिरराज ने यह सारा सामान राज्य की सम्पत्ति हड़प कर एकत्रित किया है। फलस्वरूप, श्री मिहिरराज जी को उनके भाई उद्धव और श्यामलदास जी के साथ प्रबोधपुरी (हब्बे) में नजरबंद कर दिया गया तथा उनके द्वारा उत्सव के लिये एकत्रित की गई सारी सामग्री अधिग्रहित कर राजघराने में जमा कर दी गई।

आज हमारे समाज में जो मेले और लंगर-भंडारों का प्रचलन बढ़ रहा है उसके पीछे भी प्रमुखतः उक्त घटनाक्रम को आधार बनाकर यह तर्क दिया जाता है कि स्वयं श्री मिहिरराज जी सद्गुरु महाराज की स्मृति में ऐसा करना चाहते थे। परन्तु यह पूर्णतया भ्रान्तिपूर्ण है। सर्वप्रथम, यदि ऐसा होता तो श्री बिहारी जी को भी पुत्र के नाते उसमें सहयोग करना पड़ता, जबकि वे प्रारम्भ से ही इसके विरोध में थे। इसके पीछे श्री मिहिरराज का प्रमुख उद्देश्य सुन्दरसाथ की सेवा करना मात्र था। वे चाहते थे कि सुन्दरसाथ लौकिक कार्यों से हटकर दिन-रात चर्चा-चितवनी में ढूबे रहें। इसी प्रकार, बीतक साहब के प्रकरण 17 की चौपाई 36 में जो ‘श्री राज उत्सव’ का उल्लेख आया है उसका भी अभिप्राय सद्गुरु महाराज के भण्डारे से नहीं लिया जाना चाहिए। श्री राज जी के नाम पर होने वाला यह एक प्रकार का ‘जागनी उत्सव’ था, जिसमें दिन-रात परमधाम के ज्ञान की वर्षा होती थी तथा युगल-स्वरूप की चितवनी कराई जाती थी। स्मरणीय है कि जागनी उत्सव का भण्डारे से कोई सम्बन्ध नहीं है। भण्डारे की प्रक्रिया नितान्त भिन्न होती है, जिसमें प्रमुखतः खाने-पीने और मेल-मिलाप को प्राथमिकता दी जाती है। इसके विपरीत जागनी उत्सव में चितवनी तथा ज्ञान का महत्व अधिक होता है। वैसे भी चितवनी के लिये सात्त्विक आहार अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि यद्यपि श्री मिहिरराज का उद्देश्य सही था, फिर भी मूल स्वरूप श्री राज जी को इस

तरह का उत्सव किया जाना स्वीकार नहीं था जो इस प्रकार की लीला हुई। उल्लेखनीय है कि श्री देवचन्द्र जी नवतनपुरी में श्यामजी के मन्दिर में श्री कान्हजी भट्ट से श्रीमद्भागवत की कथा श्रवण के दौरान बिना आत्मिक आहार दिये अपने शरीर को भी भोजन नहीं देते थे। एकादशी के दिन जब सब लोग उपवास रखते थे, श्री देवचन्द्र भरपेट खाते थे क्योंकि उस दिन कथा होती थी। इसके विपरीत द्वादशी को चूंकि कथा नहीं होती थी, श्री देवचन्द्र उपवास रखते थे।

वर्तमान समय में यह भी देखने में आता है कि भण्डारों में व्यय होने वाला धन अधिकांशतः ईमानदारी तथा परिश्रम से अर्जित किया हुआ नहीं होता, अतः इससे किसी को कोई लाभ आध्यात्मिक नहीं मिलता।

अंत में, सार रूप से यही कहा जा सकता है कि आत्म-जाग्रति का आधार वाणी चर्चा और चितवनी है। शोभा-यात्राओं तथा खर्चोंले मेले-भण्डारों के द्वारा कभी भी इस लक्ष्य को न तो पाया गया है और न ही पाया जा सकेगा।



ज्ञान का अहंकार नहीं करना चाहिए

वि.

सं. 1716 में श्री जी नवतनपुरी से गाँव बसाने के लिये जूनागढ़ के पास सौरठ आते हैं। यह कार्य उन्हें जामनगर के मंत्री ने सौंपा था। इससे पूर्व श्री जी को हब्से (प्रबोधपुरी) में नजरबंदी की स्थिति में एक वर्ष व्यतीत हो गया था। स्मरणीय है कि श्री जी की नजरबंदी के पीछे बिहारी जी द्वारा जामनगर के मंत्री को उनकी झूठी चुगली करना था। इससे पूर्व बिहारी जी की पूर्व अनुमति लेकर जब श्री मिहिर राज सुन्दरसाथ के भंडारे के लिये सामग्री एकत्र कर रहे थे तो बिहारी जी को सुन्दरसाथ के बीच श्री मिहिर राज का बढ़ता प्रभाव सहन नहीं हुआ और द्वेषवश उन्होंने जामनगर के मंत्री से उनकी झूठी शिकायत कर दी कि श्री मिहिर राज सरकारी खजाने का दुरुपयोग कर समस्त सामग्री एकत्रित कर रहे हैं।

यद्यपि यह सबकुछ धामधनी की प्रेरणा से ही हुआ था क्योंकि उन्हें इस तरह का भंडारा करना स्वीकार्य नहीं था। साथ ही, वाणी के अवतरण का समय भी आ गया था, जिसके बिना सुन्दरसाथ की जागनी संभव नहीं थी। अतः एक वर्ष पश्चात् जब मुगल सल्तनत में गुजरात के सूबेदार कुतुब खां से संधि के पश्चात् जामनगर के मंत्री को उसकी पत्नियों से ज्ञात हुआ कि कारागार में बंद श्री मिहिर राज में कोई अलौकिक शक्ति विराजमान है तो उसने न केवल उनको रिहा करने का निर्णय किया बल्कि जूनागढ़ के पास गाँव बसाने के लिये जमीन देकर

सम्मानपूर्वक विदा किया। गाँव बसाने के उद्देश्य से श्री जी जूनागढ़ में कान्हजी भाई के घर लगभग दो वर्ष रहे, जहाँ वे निरन्तर वाणी चर्चा भी करते थे।

जूनागढ़ में हरजी व्यास नाम के एक ब्राह्मण रहते थे, जो भागवत के प्रकाण्ड विद्वान थे। कान्हजी भाई उन्हीं के यहाँ सेवा कार्य करते थे। एक बार जब व्यास जी बहुत अधिक अस्वस्थ हो गये और उन्हें मरनासन्न जानकर परिवार वाले दान-पुण्य करने लगे तो उन्होंने उन्हें यह कहकर रोक दिया कि वे इस क्षर जगत के नहीं हैं और दान-पुण्य यमपुरी का साधन है अर्थात् इससे व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र में फंसा रहता है जो वे कदापि नहीं चाहते। इसके साथ ही वे दो अपूर्ण इच्छाएं लेकर जा रहे हैं कि जिस बात को उन्होंने ‘हाँ’ कह दिया, उसे किसी ने नकारने का साहस नहीं किया तथा जिस बात को उन्होंने ‘ना’ कह दिया उसे स्वीकारने की किसी ने हिम्मत नहीं दिखाई। व्यास जी के वचन सुनकर कि वे इस ब्रह्मांड के नहीं हैं, कान्हजी भाई के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हो गई कि कहीं ये ब्रह्मसृष्टि तो नहीं है। साथ ही, यदि ये किसी तरह से जीवित रह जाते हैं तो श्री जी से मिलकर इनकी यह चाहना भी पूर्ण हो जायेगी कि इन्हें इस संसार में खण्डित करने वाला कोई नहीं है, अर्थात् इनका अभिमान भी दूर हो जायेगा।

कान्हजी भाई ने जब श्री जी को यह सारी बात बताई तो श्री जी ने दिल में लिया और व्यास जी शीघ्र ही पूर्णतया स्वस्थ हो गये। इसके पश्चात् कान्हजी भाई व्यास जी की पहले से अधिक सेवा करने लगे जिससे वे प्रसन्न होकर उनसे कई बार कुछ मांगने का आग्रह करने लगे। आखिर, एक दिन कान्हजी भाई ने व्यास जी से कह ही दिया कि वे अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासाओं के समाधान के लिये श्री जी से चर्चा करें तो उन्हें उनकी सेवा का फल मिल जायेगा। व्यास जी कान्हजी भाई की इस बात पर बहुत आनंदित हुए और उन्होंने श्री जी को तुरन्त सम्मानपूर्वक लाने के लिये कह दिया। तत्पश्चात् श्री जी व्यास जी के निवास पर ही रहने लगे तथा दोनों के बीच श्रीमद्भागवत पर चर्चा होने लगी।

इस प्रकार, वर्चा करते हुए लगभग दो माह बीत जाते हैं। अचानक एक दिन जब श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के एक प्रसंग के दौरान व्यास जी 84 लाख योजन वाले हीरे के महल का उल्लेख करते हैं तो श्री जी उनसे प्रश्न करते हैं कि यह स्थान किसका है तथा कहाँ है? लेकिन व्यास जी इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दे पाते - कभी इसे आदिनारायण का तो कभी अक्षर ब्रह्म का बताते हैं। पुनश्चः जब श्री जी उन्हें स्मरण कराते हैं कि उनके अनुसार ही महाप्रलय में पांच तत्व, तीन गुण तथा मूल प्रकृति (मोह सागर) का लय हो जाता है तब अक्षर ब्रह्म (जो त्रिगुणतीत हैं) का स्थान कहाँ रहता है? जब व्यास जी को इसका कोई संतोषजनक उत्तर नहीं सूझता तो वे इसे आदिनारायण का स्थान बताते हैं, जो क्षीर सागर में रहते हैं। तब श्री जी ने उन्हें पुनः याद दिलाया की क्षीर सागर तो चौदह लोकों के अन्तर्गत ही आता है तो वह महाप्रलय में कैसे बच पायेगा? तब व्यास जी उत्तेजित हो जाते हैं और शास्त्रों के रचनाकारों को ही कटु वचनों से सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि जब उन्होंने ही कुछ स्पष्ट नहीं लिखा है तो वे इसका स्पष्ट उत्तर कैसे दे सकते हैं? कुछ समय पश्चात् जब व्यास जी शांत हो जाते हैं तो श्री जी उनसे कहते हैं कि वे उनके पास सच्चिदानन्द परब्रह्म के आदेश से आये थे ताकि उनके हृदय में उत्पन्न तथाकथित ज्ञान के अहंकार को समाप्त कर सत्य का प्रकाश फैलाया जा सके। तदोपरांत श्री जी ने तारतम ज्ञान के प्रकाश में उन्हें समझाया कि यह सारा संसार आदिनारायण के स्वप्न का है जो अक्षर के मन अव्याकृत के मन का स्वाप्निक रूप हैं। अक्षर ब्रह्म जब सुष्ठि की रचना का संकल्प करते हैं तो वह उनके सतस्वरूप (अहंकार), केवल (बुद्धि), सबलिक (चित्त) से होते हुए अव्याकृत (मन) में आता है, जिससे मोह सागर और आदिनारायण बनते हैं।

तब व्यास जी श्री जी के चरणों में गिर कर क्षमा मांगते हुए कहते हैं कि उन्हें जो अपनी विद्वता का अभिमान था, वे उसे इसी पल त्यागते हैं तथा अध्यात्म की सच्ची राह पर चलकर अक्षर से भी परे अक्षरातीत का अनुभव करना चाहते हैं।

इसके पश्चात् श्री जी जब तक जूनागढ़ में रहे, व्यास जी अपने अंकुर के अनुकूल उनके चरणों के सानिध्य का लाभ लिया।

कुछ इसी प्रकार का घटनाक्रम ठट्ठानगर में भी घटित होता है जब श्री जी वि. सं. 1724 में वहाँ पधारते हैं। ठट्ठानगर में कबीर पंथ के अनुयायी महात्मा चिंतामणि जी रहते थे, जिन्हें भी अपने ज्ञान का अत्यन्त अभिमान था। जब श्री जी उनसे मिले तो उन्होंने उनसे छूटते ही कहा- “यदि आप चाहें तो मैं आपको चतुर्भुज स्वरूप भगवान विष्णु तथा ज्योति स्वरूप या सहस्र फन वाले शेषनाग पर विराजमान नारायण को दिखा सकता हूँ। यही नहीं, यदि आप द्विलमिल करती ज्योति या दस अहनद नादों को सुनना चाहते हैं तो मैं वो भी कर सकता हूँ।” इस पर श्री जी ने चिंतामणि जी से आदर-पूर्वक कहा कि वे तो मात्र तत्व ज्ञान लेने आये हैं तथा ब्रह्म और माया के यर्थाथ स्वरूप की पहचान करना चाहते हैं। तत्पश्चात्, जब कमाल की एक साखी “कह्या कौड़ी तो हीरा भया, हीरा ते भया लाल, आधा भक्त कबीर है, पूरा भक्त कमाल” पर दोनों के मध्य गहन चर्चा हुई तो चिंतामणि जी श्री जी की व्याख्या से बहुत प्रभावित हुए। इसके उपरांत श्री जी ने चिंतामणी जी को कबीर जी का निम्न कीर्तन विस्तारपूर्वक सुनाया :

एक पलक ते गंग जो निकसी, हो गई चहुं दिस पानी ।

उहि पानी दो परवत ढाँपे, दरिया लहर समानी ॥ (साखी)

उड़ मख्खी तरवर चढ़ बैठी, बोलत अमृत बानी ।

वह मखी के मखा नाहीं, बिन पानी गरभानी ॥

तिन गरभें गुन तीनों जाय, वह तो पुरुष अकेला ।

कहे कबीर या पद को बूझे, सो सतगुरु मैं चेला ॥ (साखी)

इसे सुनते ही चिंतामणी जी को पूर्ण विश्वास हो गया कि यह निश्चित रूप से अखंड परमधाम का वर्णन है तथा वे अपने शिष्यों को सम्बोधित होकर कहने

लगे कि उनके गुरुदेव ने कहा था कि जो उक्त साखी का वास्तविक अर्थ बता देगा, वो यही दिव्य पुरुष है। तत्पश्चात् चिंतामणि जी ने अपने शिष्यों के साथ श्री जी के चरणों में प्रणाम किया।

चूंकि चिंतामणि जी के अन्दर परमधाम की आत्मा थी, अतः वे नियमित रूप से श्री जी की चर्चा सुनने आने लगे और सुनकर बहुत अधिक आनन्दित होते थे। रात्रि को श्री जी को एक किरंतन उतरा - “सुनो के सत के बनजारे।” इस किरंतन में परमधाम की ब्रह्मसृष्टियों को आगाह किया गया है कि उन्हें अपने ज्ञान के अहंकार को छोड़कर सत्य की राह पर चलना चाहिए। प्रातः जब चिंतामणि जी ने इस किरंतन को पढ़ा तो उनके हृदय में इतनी गहरी चोट लगी कि उनका विवेक जागृत हो गया और उन्होंने संसार के मिथ्या सुखों को एक क्षण में ठोकर मारकर श्री जी के चरणों को पकड़ लिया। उन्होंने श्री जी से स्पष्ट कह दिया कि वे उनके ज्ञान की लाठी से अपने अहंकार-रूपी काले कुते को तुरन्त मार डालेंगे। साथ ही, अपने शिष्यों से भी कह दिया कि उनके अन्दर अखण्ड का कोई ज्ञान नहीं है एवं श्री जी ही साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप हैं।

प्रत्येक शिष्य की इच्छा होती है कि उसका गुरु पूर्ण हो, परन्तु पूर्ण तो केवल परमात्मा है। जो परमात्मा से जुड़ा होता है, वह अपनी पूर्णता का कभी भी अहंकार नहीं करता क्योंकि जिस दिन उसने ऐसा कर दिया, उसकी पूर्णता समाप्त होने में एक क्षण भी नहीं लगेगा। अहंकार, अज्ञानता से आता है एवं जिसने अपना सर्वस्व मिटा दिया और मैं-खुदी को मार दिया, उसमें और परमात्मा में कोई भेद नहीं रह जाता।

इसी प्रकार, मस्कत बंदर में श्री जी के स्वरूप की पहचान न होने से एक बार तो महावजी भाई का विश्वास भी डगमगा गया था, जब श्री जी ने उनकी खण्डनी कर दी थी। लेकिन रात्रि को स्वप्न में जब श्री राज जी के जोश-स्वरूप ने

उन्हें चांदा मारा तो उन्हें सत्यता का बोध हुआ। तत्पश्चात्, श्री जी के प्रति उनकी आस्था अटूट हो गई और विपरीत परिस्थितियों में भी उन्होंने उनका साथ नहीं छोड़ा।

इसी प्रकार, काशी के एक पंडित भट्टाचार्य जी को अपने ज्ञान पर बहुत अभिमान था, लेकिन जब वे अपनी पत्नी के कहने पर श्री जी से शास्त्रार्थ करने पन्ना जा रहे थे तो धामधनी की ऐसी कृपा हुई कि श्री जी से मिलने से पूर्व ही राह में खेलती हुई कुछ बालिकाओं ने ही उनका अहंकार समाप्त कर दिया। बाद में, एक बार पुनः श्री जी के प्रति उनका विश्वास डगमगाने लगा जब पन्ना से कोसों दूर स्थित खम्भात की एक महिला सुन्दरसाथ द्वारा गर्म खीर का भोग लगाने से श्री जी की जीभ जल गई, तो जब तक उन्होंने स्वयं खम्भात जाकर इस तथ्य की पुष्टि नहीं कर ली, उन्हें संतुष्टि नहीं हुई।

उक्त घटनाक्रमों से हमें यही शिक्षा मिलती है कि कभी भी ज्ञान का अहंकार नहीं करना चाहिए। लोकेषणा (प्रतिष्ठा की इच्छा) एवं दारेषणा (अनुयायियों का मोह) को छोड़ पाना बड़े-बड़े ज्ञानी व तपस्वियों के लिये भी कठिन होता है। ज्ञान का समुद्र अगाध है। इसलिए मनुष्य को ज्ञान के क्षेत्र में बड़ी-से-बड़ी उपलब्धि प्राप्त होने पर भी अपने मन में यह मिथ्या धारणा नहीं पालनी चाहिए कि दुनिया में उसके समान कोई ज्ञानी नहीं है। विद्या ददाति विनयम - अर्थात् ज्ञान से विनप्रता आती है, अतः इसका उद्देश्य सबका कल्याण होना चाहिए। यदि हर कोई अपनी विद्वता का झँडा गाड़ने का प्रयास करेगा तो समाज में वर्ग संघर्ष होगा। हमें याद रखना चाहिए कि हर व्यक्ति जहाँ अपने-आप में कुछ विशिष्टताएं लिए होता हैं, वहीं उसमें कुछ कमियां भी होती हैं। लेकिन जब मनुष्य अपने तथाकथित ज्ञान का अनावश्यक रूप से डंका बजाता है तो यह उसकी अज्ञानता का ही परिचायक होता है। कोई भी सच्चा ज्ञानी ऐसी भूल कभी नहीं करता। बल्कि उसे चाहिए कि अपने ज्ञान को परमात्मा-रूपी सागर की कृपा-रूपी एक बूँद माने तथा सकारात्मक

दृष्टिकोण रखते हुए इसे मानवता के कल्याण में लगावे, ना कि मिथ्या पांडित्य के प्रदर्शन में।

यही बात हम सुन्दरसाथ को भी अपने आचरण में लानी चाहिए। धामधनी की कृपा से यदि हमें ब्रह्मवाणी का कुछ ज्ञान प्राप्त हो गया है तो इसका अहम न पालकर इसका प्रचार-प्रसार करना चाहिए। हम यह क्यों भूल जाते हैं कि यदि आज समाज में हमारा सम्मान होता है तो केवल श्री प्राणनाथ जी की ब्रह्मवाणी के कारण वरना हमें कोई पूछने वाला नहीं होता। वैसे भी जहाँ तक आत्मा की जागृति का प्रश्न है, वह केवल शब्द ज्ञान आत्मसात करने से नहीं हो सकता। इसके लिये हमें ज्ञान को अपने आचरण में भी उतारना पड़ेगा।



10

आहार की सात्त्विकता

वि.

सं. 1728 में श्री जी मस्कत बन्दर से अबासी बन्दर के लिये प्रस्थान करते हैं। इससे पूर्व मस्कत बन्दर में श्री जी ने अरबी लुटेरों को स्पष्ट सदेश दे दिया था कि उनके बंध से सुन्दरसाथ को मुक्त कराने के सम्बन्ध में उन्हें कोई चिंता नहीं है तथा सर्व-समर्थ श्री राज जी समय आने पर उन्हें स्वयं छुड़ा लेंगे।

अबासी बन्दर में भैरों ठक्कर नामक एक धनाढ़ी सेठ रहते थे, जो लोहाणा क्षत्रिय जाति के थे। जब उन्हें पता चला कि उसकी जाति के अतिरिक्त अन्य सभी जातियों के बन्धकों को उनके सगे-सम्बन्धियों ने अरबी लुटेरों की कैद से मुक्त करा लिया है तो पुण्य और प्रतिष्ठा की भावना से वे भी अपनी जाति के लोगों को छुड़ाने के लिये तत्पर हो गये। उन्होंने तुरन्त दंड की राशि सत्तर हजार लारी (अरबी मुद्रा) लुटेरों को भिजवा कर सभी सुन्दरसाथ को छुड़ाकर अबासी बन्दर ले आये।

जब श्री जी को इसकी सूचना मिली तो वे बड़े प्रसन्न हुए तथा भैरों सेठ से मिलकर व्यक्तिगत रूप से उनका आभार प्रकट करने का निश्चय किया। साथ ही, वे चाहते थे कि यदि ऐसे दयालु व्यक्ति को जागृत कर परमधाम की राह पर लगा दिया जाय तो इसमें उसका भी कल्याण होगा।

भेट के पश्चात् भैरों सेठ श्री जी लौकिक रीति से पहचान कर आये तथा उनकी सेवा की। धीरे-धीरे वहाँ श्री जी ने ब्रह्म ज्ञान की चर्चा प्रारम्भ कर दी जिसे सुनकर भैरों सेठ बहुत अधिक आनन्दित हुए। परन्तु निरंतर चर्चा सुनने के पश्चात् भी जब भैरों सेठ की आत्मा जागृत नहीं हुई तो एक दिन श्री जी ने उनसे कहा - “सेठ जी, आपने अरबों के बंधन से सुन्दरसाथ को न केवल मुक्त कराया है बल्कि उनकी निरन्तर सच्चे हृदय से सेवा भी कर रहे हैं, अतः कृपया बतायें कि आपके सुख के लिये हम क्या करें जिससे आपका एहसान भी चुकाया जा सके तथा आपकी आत्मा भी जागृत हो सके।” तब भैरों सेठ ने बहुत ही विनम्रता से श्री जी से कहा कि आपने मेरे ऊपर पहले ही परमधाम का अखण्ड ज्ञान सुनाकर इतनी बड़ी कृपा कर दी है।

एक दिन, अचानक श्री जी जब भैरों सेठ के घर गये तो वह हुक्का पी रहा था। श्री जी को तुरन्त सारी बात समझ आ गई कि भैरों सेठ की आत्म जागृति न होने का क्या कारण है। इस पर श्री जी ने उनसे कहा - “सेठ जी, यदि आप मेरे बताये अनुसार एक महीना संयमित जीवन व्यतीत करें तो आप को सरलतापूर्वक परमात्मा के चरण प्राप्त हो जायेंगे। यदि ऐसा न हो तो आप अपना संयम तोड़ देना और मैं हिन्दुस्तान वापस लौट जाऊंगा।”

भैरों सेठ इसके लिये तुरन्त तैयार हो गये। तब श्री जी ने उनसे चार प्रतिज्ञायें कराई - एक, तम्बाकू पीना पूर्णतया बंद कर दो, दूसरा, किसी भी प्रकार के पशु-पक्षी का मांस, मछली, शराब और हर तरह के नशे का परित्याग कर दो, तीसरा, परस्त्री को माता के तुल्य देखो, तथा चौथा, दूसरे के धन की कभी भी चोरी न करो।

भैरों सेठ को लगा कि यदि इतनी सरलता व अल्प परिश्रम से उनकी आत्मा जागृत हो जाती है तो इससे अच्छी क्या बात हो सकती है। उन्होंने तुरन्त अपने सामने रखा हुक्का तोड़ दिया और घर में आदेश दे दिया कि वे भविष्य में

मांस-मछली आदि किसी प्रकार का तामसिक भोजन नहीं ग्रहण करेंगे। धामधनी पर ईमान न होने के कारण भैरों सेठ के परिवार वालों ने इसका विरोध करना प्रारम्भ कर दिया परन्तु वे अपने प्रण से टस-से-मस नहीं हुए।

इसके पश्चात् भैरों सेठ श्री जी की चर्चा पहले से अधिक दृढ़तापूर्वक सुनने लगे। तीसरे दिन ही वे चर्चा में उठ खड़े हुए और श्री जी को सम्बोधित कर कहने लगे - “हे धामधनी, आपने जिन चार वस्तुओं का मुझे एक माह के लिये निषेध करने को कहा था, मैं उन्हें जीवन भर के लिये त्यागता हूं, क्योंकि इस मायावी जगत में मुझे प्रियतम परब्रह्म का अनुभव हो गया है और इस खेल का सारा रहस्य भी विदित हो गया है।” तत्पश्चात् भैरों सेठ एवं अनेक सुन्दरसाथ ने श्री जी से तारतम लिया।

जब से दुनिया बनी है लोग विषयों में ही तृप्ति खोजते हैं - शराबी, शराब में, मांसाहारी, मांस में। यह तृप्ति नहीं है बल्कि तृष्णा है। मनुष्य की यह तामसिक प्रवृत्ति विश्व को विनाश की तरफ ले जा रही है। आज मनुष्य अपनी जिव्हा के क्षणिक स्वाद के लिये कितने पाप करता है, यहाँ तक कि निरीह पशुओं को भी मारने से नहीं हिचकता। चाहे शराब हो या मांसाहार - यह आसुरी आहार है जिसके सेवन के पश्चात् मनुष्य अपना विवेक पूर्णतः खो देता है - उसे सत्य-असत्य, अच्छा-बुरा किसी भी वस्तु का भान नहीं रहता। याद रखिये, विश्व में जो भी समाज आगे बढ़े हैं - सतोगुण की भावना से। लेकिन इसके बावजूद भी आज पूरी दुनिया में तमोगुण की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इसीलिये प्रकृति का प्रकोप भी होता है जिसकी सजा किसी न किसी रूप में सभी प्राणियों को भोगनी पड़ती है।

यही कहानी विषयों की है - विषयों को भोगने में आनन्द नहीं बल्कि मुनष्य की इन्द्रियों का तेज क्षीण हो जाता है। आज सम्पूर्ण संसार संवेदनाहीन हो गया है और तृष्णा के पीछे भागा जा रहा है। लेकिन हम जितना अधिक इसके पीछे भागेंगे, यह उतनी ही बढ़ेगी।

भैरों सेठ ने जब बुराई को छोड़ा तो आत्म निरिक्षण कर सच्चे हृदय से छोड़ा। परिणामस्वरूप, उसने तीसरे दिन ही मूल-मिलावे में विराजमान युगल-स्वरूप को अनुभव कर लिया। याद रखिये, धामधनी की मेहर सब पर समान रूप से है, परन्तु जो हृदय की आंतरिक सच्चाई से अपने अवगुणों का परित्याग करता है, उसे निश्चित रूप से सफलता मिलती है।

अतः अध्यात्म के मार्ग में बढ़ने से पूर्व हमें अपने आहार को सात्त्विक बनाना होगा, जिसके बिना न तो ध्यान-चितवनी संभव है और न ही परमात्मा का साक्षात्कार। यदि हमारे आहार में शुद्धता नहीं है और आचरण में पवित्रता नहीं है, तो हम कितनी भी वाणी पढ़ लें, उसका कोई लाभ नहीं है। ज्ञान मार्ग दिखाता है - लक्ष्य तो आपके हृदय के प्रेम, श्रद्धा व समर्पण से ही प्राप्त होगा।



11

धौर्य की परीक्षा

वि.

सं. 1722 में श्री जी दीपबंदर पथारते हैं। यहाँ जयराम कंसारा रहते थे जो बर्तन बनाने का व्यापार करते थे। उन्होंने सद्गुरु श्री देवचन्द्र जी से तारतम ग्रहण किया था, अतः वे श्री जी को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। दोनों के बीच विस्तृत चर्चा के दौरान श्री जी ने जयराम भाई को बताया कि धामधनी के आदेशानुसार वे उन्हें माया से निकाल कर धनी के चरणों से जोड़ने के लिये विशेष रूप से आये हैं। दरअसल जयराम भाई तारतम लेने के पश्चात् पुनः माया की तरफ उन्मुख हो गये थे। वे न तो सद्गुरु महाराज के धामगमन पर नवतनपुरी गये और न ही बिहारी जी के गादी अभिषेक के समय। यहीं नहीं, न तो वे चर्चा सुनते थे, न ही चितवनी करते थे और न ही सुन्दरसाथ को एकत्रित कर आत्म-जागृति का कोई कार्यक्रम करते थे। इस प्रकार, जयराम भाई ने अपने जीवन में तारतम ज्ञान को बिल्कुल भी आत्मसात नहीं किया। बाद में श्री जी ने खण्डनी के कठोर शब्दों से भी जयराम भाई को सावचेत करने का प्रयास किया। यहाँ तक कि उन्हें कुत्ते की उपमा दे दी जो हड्डी को चूसते हुए अपने ही दांतों से निकलने वाले अपने ही खून को पीकर सोचता है कि वे हड्डी से निकले खून पी रहा है।

श्री जी के इन दिव्य वचनों को सुनकर जयराम भाई फूट-फूटकर रोने लगे और स्वयं को धिक्कार कर अपनी सारी भूल स्वीकार की। तत्पश्चात् श्री जी के

मुखारबिंद से पुनः चर्चा का अलौकिक रस प्रवाहित होना प्रारम्भ हो गया, जिसे सुनने बहुत-से सुन्दरसाथ भी आने लगे। पूर्व में श्री जी के मुख से निकले खण्डनी के कठोर वचन तथा बाद में अलौकिक ज्ञान चर्चा ने जयराम भाई के हृदय को झकझोर दिया। श्री जी ने उन्हें ब्रज-रास की लीला के बारे में बताया कि किस प्रकार हम सबने धनी के प्रति प्रेम का मार्ग अपनाया था एवं ब्रज से रास जाते समय इस संसार को एक पल में छोड़ दिया था। श्री जी के मुखारबिंद से होने वाली चर्चा में सुन्दरसाथ को इतना आनन्द आता था कि वे धनी के प्रेम में मग्न हो जाते थे। धीरे-धीरे लोगों ने भागवत आदि कथाओं में जाना छोड़ दिया जिससे इनके वाचक श्री जी के कट्टर विरोधी हो गये और उन्होंने एक चुगलखोर को बादशाह के पास श्री जी की झूठी शिकायत करने को भेजा। वे चाहते थे कि श्री जी को किसी प्रकार से दीपबंदर से निकाल दिया जाय।

एक दिन, जब वह चुगलखोर बादशाह के पास श्री जी की शिकायत करने जा रहा था तो धामधनी ने कुछ इस प्रकार की लीला की कि वह चुगलखोर रास्ते से ही वापस लौट गया। फिर भी सुन्दरसाथ में खलबली मच गई और वे भयभीत होकर छिप गये तथा श्री जी की चर्चा में जाना बंद कर दिया। इस प्रकार, माया ने सबकी श्रद्धा व विश्वास रूपी आयुधों को छीन लिया तथा श्री राज जी के प्रति सबका ईमान बालू की दीवार की भाँति ढह गया।

लेकिन इस संकट की घड़ी में भी जयराम भाई तथा उनके परिवार के सदस्यों ने धैर्य नहीं खोया तथा श्री जी के प्रति अपनी अटूट आस्था व निष्ठा बनाये रखी। बाद में, जब सुन्दरसाथ को अपनी गलती का अहसास हुआ तो वे पुनः श्री जी के चरणों में आकर चर्चा सुनने लगे।

कुछ इसी प्रकार का वृत्तान्त मस्कत बंदर का है जहाँ महावजी भाई रहते थे। श्री जी ने उनसे कह कर माया में भटके हुए सुन्दरसाथ को एकत्रित किया तथा अलौकिक ब्रह्मज्ञान का रस बरसाना प्रारम्भ कर दिया। श्री जी की अलौकिक ज्ञान

चर्चा का प्रवाह बहुत जोर-शोर से होने लगा तथा इसे सुनने दूर-दूर से लोग आने लगे। इस बीच जैसे ही स्थानीय कथावाचकों को श्री जी और उनकी ज्ञान चर्चा के सम्बन्ध में पता चला तो वे अल्पज्ञता एवं स्वार्थवश उनके विरोध में उतर आये। दरअसल ये लोग जिन खड़ियों से वर्षों से जुड़े हुए थे, उन्हें किसी भी कीमत पर छोड़ना नहीं चाहते थे। उन्हें लगने लगा कि यदि ऐसे ही चलता रहा तो इनकी वर्षों पुरानी समस्त मान्यतायें ही नष्ट हो जायेंगी तथा वे अपना पेट कैसे पालेंगे?

चर्चा के क्रम में अन्य सुन्दरसाथ के साथ महावजी भाई ने तारतम ज्ञान तो ग्रहण कर लिया परन्तु उन्हें श्री जी के स्वरूप की पूर्ण पहचान नहीं हो पायी थी। अतः एक दिन जब चर्चा के दौरान श्री जी ने उनकी खण्डनी कर दी तो उन्हें बहुत बुरा लगा तथा उन्होंने चर्चा में न जाने का निर्णय ले लिया। उन्हें लगा कि वे श्री जी की इतनी सेवा करते हैं, फिर उनमें ऐसे क्या अवगुण हैं जो श्री जी ने उनके साथ ऐसा व्यवहार किया?

रात्रि को जब महावजी भाई सो रहे थे तो श्री राज जी के जोश स्वरूप ने उनके मुँह पर कसकर तमाचा मारा। उन्हें लगा कि मानों वह स्वरूप उनसे कह रहा है कि तुमने श्री जी के अन्दर विराजमान अक्षरातीत को नहीं पहचाना जो उनके खण्डनी के वचनों को अन्यथा ले लिया जो वस्तुतः उनके हितार्थ कहे गये थे। उन्हें बहुत दुख हुआ और प्रातः होते ही श्री जी के चरणों में गिरकर क्षमा मांगी। तत्पश्चात् महावजी भाई पूर्णतया परिपक्व हो गये तथा उनमें श्री जी के प्रति अटूट आस्था उत्पन्न हो गई।

यहाँ दज्जाल ने पुनः अपना रूप दिखाया। इस बार वह महावजी भाई के परिवार के सदस्यों के अन्दर जाकर बैठ गया। दरअसल, महावजी भाई चर्चा, चितवनी तथा सेवा में इतने अधिक तल्लीन हो गये थे कि घर-गृहस्थी के कार्यों से विन्मुख होने लगे। यह उनके परिवार को सहन नहीं हुआ और वे घर में सदैव विवाद बनाये रखते थे। किंतु इन विपरीत परिस्थितियों में भी महावजी भाई जरा भी नहीं डिगे और न ही अपना धैर्य खोया, क्योंकि धामधनी की उन पर अपार मेहर थी।

उक्त दोनों प्रसंगों से यह सार तत्व निकलता है कि जब भी हम अध्यात्म की राह पर चलेंगे, हमारे रास्ते में अङ्गचर्णे अवश्य आयेंगी। श्री जी के साथ भी ऐसा होता था। वे जहाँ भी सुन्दरसाथ की जागनी के लिये जाते थे, दज्जाल अपने पैर अवश्य पसारता था। स्मरणीय है कि दज्जाल कोई व्यक्ति विशेष नहीं है बल्कि यह अज्ञानता का प्रतीकात्मक रूप है। धार्मिक विवादों के मूल में सदैव स्वार्थ व अहंकार छिपा होता है। सिद्धान्तों या मान्यताओं की आड़ में मुख्यतः वर्चस्व की होड़, स्वार्थपरता और अहम को तुष्ट करना ही होता है। दूसरे शब्दों में, अध्यात्म की राह में वे लोग ही विरोध खड़ा करते हैं जिन्हें परमात्मा से न तो प्रेम होता है और न ही आस्था। सुन्दरसाथ के साथ भी अनेकों बार इस प्रकार की घटनायें हुईं जब उनका श्री जी के प्रति ईमान डगमगा गया। वास्तव में, यह उनके धैर्य की परीक्षा होती थी जो स्वयं धामधनी विपरीत परिस्थितियां उत्पन्न करते थे। साथ ही साथ, वे सभी ब्रह्मात्माओं को अपनी मेहर की छांव तले रखते थे तथा उनका बाल भी बांका नहीं होने देते थे।

जहाँ तक श्री जी द्वारा की जाने वाली खण्डनी का प्रश्न है, इसमें सुन्दरसाथ विशेष का अहित नहीं बल्कि हित की ही भावना होती थी। उल्लेखनीय है कि किसी व्यक्ति को जगाने के लिये पहले सरल शब्द बोले जाते हैं, फिर कठोर और यदि वह फिर भी नहीं जागता तो उसके हृदय को चोट पहुँचाने वाले कठोरतम शब्द। लेकिन यह कार्य भी उसका शुभचिन्तक ही कर सकता है। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि हमें सदा खण्डनी करके ही जागृति करनी है।

अंत में, सारांश रूप में यही कहा जा सकता है कि परमधाम की राह में विघ्न और बाधायें तो आयेंगे परन्तु हमें उनसे विचलित न होकर अपना धैर्य बनाये रखना चाहिए। याद रखिये, आत्मबल से रहित व्यक्ति ही सदैव भय से ग्रसित रहता है। जब धामधनी हर पल हमारे साथ हैं तो हमें माया की किसी भी वस्तु से बिना घबरायें आत्म-जागृति के मार्ग पर आगे बढ़ते रहना चाहिये।



12

क्या वाणी इस्लामोन्मुख है ?

वि.

सं. 1735 में हरिद्वार में कुंभ के मेले में भाग लेकर श्री जी लगभग चार माह पश्चात दिल्ली लौट कर औरंगजेब को जागृत करने के उद्देश्य से सुन्दरसाथ से विचार-विमर्श करते हैं। इस कार्य में मुख्य समस्या औरंगजेब तक अपनी बात पहुंचाने की थी। हरिद्वार जाने से पूर्व इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखकर श्री जी ने 22 प्रश्नों की एक पाती बनवाई थी लेकिन उसे जब एक स्थानीय सुन्दरसाथ आसाजीत वकील को दिखाया गया तो उसने उसे यह कहकर रद्द कर दिया था कि यह हिंदुस्तानी भाषा में है जिसे बादशाह के दरबार में कोई नहीं स्वीकार करेगा। इस बार जब उसने पाती के वचनों को पुनः सुना, जिसमें नबी और नारायण की पहचान कराई गई थी तो उसे लगा कि इसमें मुहम्मद साहब और इस्लाम को अधिक महत्व दिया गया है और उसका विश्वास डगमगा गया।

यथापि उस समय नबी और नारायण के सम्बंध में एक सामान्य-सी बात हुई थी, परन्तु ‘सनंध’ ग्रंथ के अवतरण के पश्चात यह पूर्णतः स्पष्ट हो गया कि इसमें न तो किसी की प्रशंसा की गई है और न ही निंदा, यदि कोई अन्तर है तो केवल भाषा का। ऐसी स्थिति तब उत्पन्न होती है जब हम किसी संप्रदाय विशेष की संकीर्ण विचारधारा के वशीभूत होकर सत्य को स्वीकार करने का साहस नहीं कर पाते। हमें लगता है कि हमारी धारणा ही सत्य है जो उचित नहीं है। बीतक में हमें

बीतक

क्या वाणी इस्लामोन्मुख है ?

ऐसे अनेक प्रसंग मिल जायेंगे, उदाहरण के लिए, काजी अब्दुल रसूल और पंडित बद्रीदास, जब उन्होंने अपने मत/पंथ की मिथ्या धारणाओं को त्यागकर सत्य को स्वीकार किया।

उक्त संदर्भित प्रसंग में नबी मुहम्मद साहब को कहा गया है परन्तु जब तक हम उनके वास्तविक स्वरूप को नहीं जानेंगे, इस प्रकार के विवाद जन्मते रहेंगे। दिल्ली आने से पूर्व श्री जी के मन में हिंदू-मुस्लिम एकता तथा वेद-कतेब एकीकरण का विचार सर्व-प्रथम मेड़ता में आया था जब उन्होंने एक मस्जिद की मीनार से मुल्ला की अजान सुनी। इससे पहले वे मुख्यतः वेद पक्ष की ही चर्चा करते थे। उस अजान में मुल्ला ने जो कलमा उच्चारित किया था, वह ‘अशहदू अल ला इलाह इलिलाह मुहम्मदरसूल्लाह सल्लल्लाहु अलैही वसल्लम’ था। श्री जी को लगा कि मुल्ले की अजान में अवश्य ही कोई रहस्यमयी बात है जिसका सीधा संबंध क्षर-अक्षर-अक्षरातीत से है। यही नहीं, इसमें मुहम्मद को खुदा का रसूल (संदेशवाहक) भी कहा गया है। श्री जी सोचने लगे कि जब सद्गूरु श्री देवचन्द्र जी ने कहा था कि परमधाम में अक्षरातीत श्री राज जी, श्री श्यामा जी, अक्षर ब्रह्म, महालक्ष्मी तथा सखियां पांचों अद्वैत रूप में विराजमान हैं तथा इनके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है तो यह संदेशवाहक कौन है जिसकी कलमें में बात की जा रही है। परन्तु ‘सनंध’ ग्रंथ, जो इस घटनाक्रम के पश्चात अनूपशहर में अवतरित हुआ, की निम्न चौपाई से यह स्पष्ट हो गया कि अक्षर ब्रह्म की आत्मा ही श्री राज जी का संदेश लेकर मुहम्मद साहब के तन इस नश्वर जगत में आई, जिसने स्वयं को अल्लाह का रसूल कहा :

रसूल आया हुकमे, तब नाम धराया गैन ।

हुकम बजाते पीछा फिरता, तब सोई ऐने का ऐन ॥ (36/62)

यहां यह प्रश्न भी उठता है कि जब श्री जी में परमधाम की पांचों शक्तियां - जोश(जिबरील), आनंद शक्ति (श्यामा जी), अक्षर की आत्मा, आवेश शक्ति

(हुक्म) तथा जागृत बुद्ध (इम्प्राफील) - विद्यमान थी तो उन्हें कुरान का ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी अन्य साधन की क्या आवश्यकता थी? इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि पहली बात तो मूल-स्वरूप ने मेड़ता से ही कुरान पक्ष का ज्ञान अवतरित होने की बात अपने दिल में ली थी। साथ ही, श्री जी के लिए प्रकृति की मर्यादा निभाना भी आवश्यक था। वस्तुतः कुरान का ज्ञान श्री राज जी ने अपनी जोश की शक्ति (जिबरील) के माध्यम से मुहम्मद साहब के तन दर्शाया जाहिर किया तथा अक्षर की आत्मा को लीला रूप में इसकी शोभा दी गई।

यहां यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि 'प्राणनाथ' की तरह 'मुहम्मद' भी किसी तन का नाम नहीं है। मुहम्मद का अर्थ है - महिमा से परे अर्थात् अनंत महिमा वाला। बीतक साहब (62 / 21) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मलकी सूरत सदगुरु श्री देवचन्द्र जी से हजार वर्ष पूर्व बसरी सूरत मुहम्मद के रूप में अरब में अवतरित हुई। दूसरी सूरत (मलकी) में श्री श्यामा जी की आत्मा थी जो दसवीं सदी में मारवाड़ में अवतरित हुई। तीसरी सूरत हकी सूरत श्री प्राणनाथ जी के रूप में अवतरित हुई जिसमें पूर्व की दोनों सूरतें - बहरी और मलकी - समाहित हो गई। इस प्रकार, धामधनी ने अपने हुक्म के द्वारा तीनों सूरतों के माध्यम से परमधाम का ज्ञान इस संसार में अवतरित किया। चूंकि परमधाम से इस तीसरे जागनी के ब्रह्मांड में आत्मायें हिन्दू और मुस्लिम दोनों तनों में आई हैं, जैसाकि सदगुरु महाराज ने श्री मिहिर राज जी को पूर्व में ही स्पष्ट कर दिया था, तो स्वाभाविक रूप से उनके लिए दोनों भाषाओं - हिंदुस्तानी तथा अरबी/फारसी - में ज्ञान का अवतरण आवश्यक था ताकि आत्माएं उसे सरलता से ग्रहण कर जागृत हो सकें। अतः कुरान में जो ज्ञान समाहित है उसका मूल उद्देश्य मुस्लिम तनों में आई आत्माओं को जागृत करना है। इसमें जो कुछ भी कहा गया है, वह किसी भी रूप में हिंदू ग्रंथों से भिन्न नहीं है, केवल भाषा का अंतर है।

वाणी का कथन है :

जुदे जुदे नाम गावहीं, जुदे जुदे भेष अनेक ।
जिन कोई झगड़ों आपमें, धनी सबों का एक ॥

अर्थात्, मूल शाश्वत सत्य सभी के लिए एक ही होता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश तथा चंद्रमा की चांदनी सभी के लिए समान है, उसी प्रकार परमात्मा और उसका ज्ञान सभी के लिए समान है। हाँ, यह बात अलग है कि हम उसको कैसे ग्रहण करते हैं, क्योंकि समस्त प्राणियों की बौद्धिक क्षमता एक समान नहीं होती। फिर भी हमें यह समझना होगा कि केवल भाषा-जन्य भेद के कारण हम एक पक्ष के ज्ञान को सही तथा दूसरे के ज्ञान को गलत नहीं ठहरा सकते। जहाँ तक धर्म का प्रश्न है, यह भाषा, वेशभूषा, रीति-रिवाज, मत-पंथों और देश-काल की सीमाओं से सर्वथा परे होता है। इस तथ्य को न जानने वाले ही अक्सर सांप्रदायिक खड़िवादिता का शिकार होते हैं। वाणी कहती है :

ब्राह्मण कहे हम उत्तम, मुस्लिम कहे हम पाक ।
दोउ मुट्ठी एक ठोर की, एक राख तो दूजी खाक ॥

अतः दिल्ली के प्रसंग से हमें यह बिल्कुल भी नहीं मानना चाहिए कि इसमें हिन्दुओं को नीचा तथा मुस्लिमों को ऊंचा दिखाने का प्रयास किया गया है। इसी प्रकार, कुछ लोग श्री निजानंद संप्रदाय तथा इसके मूल ग्रंथ श्री कुलजम स्वरूप साहब वाणी पर इस्लाम-परक होने का आरोप लगाते हैं, जो सर्वथा अनुचित है। कुछ अति-उत्साही सुन्दरसाथ तो वाणी से कतेब परंपरा के चार ग्रंथों, यथा सनंध, खुलासा, मार्फत सागर तथा क्यामतनामा को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अप्रासंगिक मानकर इन्हें हटाने तक की बातें करने लगे हैं। परंतु वे यह भूल जाते हैं कि ये ग्रंथ वाणी के प्राण हैं। इनमें कतेब ग्रंथों के गुह्य रहस्यों को प्रकट किया गया है जिसका प्रमुख उद्देश्य दोनों पक्षों में एकीकरण स्थापित करना है।

जैसाकि हम सभी जानते हैं कि श्री कुलजम स्वरूप साहेब में विभिन्न भाषाओं का प्रयोग किया गया है, जिसमें हिंदुस्तानी मुख्य है। इसका प्रमुख कारण,

जैसाकि श्री महामति जी ने स्वयं सनन्ध वाणी (1 / 15) में कहा है, इसकी सर्वाधिक लोकप्रियता है :

**बिना हिसाब बोलियां, मिलने सकल जहान ।
सबको सुगम जान के, कहूँगी हिंदुस्तान ॥**

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हिंदुस्तानी भाषा से अभिप्राय तत्कालीन भारत वर्ष में बोली जाने वाली सभी प्रादेशिक भाषाओं से है जिसमें गुजराती और सिंधी भी सम्मिलित हैं। इसी प्रकार, श्री मुखवाणी में सम्मिलित लगभग 6,000 चौपाइयां ऐसी हैं जो कतेब पक्ष से सम्बंधित हैं और जिनमें अरबी/फारसी का प्रयोग किया गया है ताकि उस समय देश में कट्टर शरियत वाले मुस्लिम साम्राज्य में मुस्लिम तनों में अवतरित आत्माओं को जागृत किया जा सके।

पुनःच, इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वाणी इस्लामोन्मुख है। उल्लेखनीय है कि सर्वप्रथम 10वीं सदी में कुरान के द्वारा यथार्थ सत्य ज्ञान अरब में आया, जिसे अक्षरातीत परब्रह्म श्री राज जी की जोश की शक्ति (जिबरील) के माध्यम से मुहम्मद साहब, जिनमें अक्षर की आत्मा थी, के तन के द्वारा जाहिर किया गया। इसके पश्चात श्री राज जी की ही आहलादिनी शक्ति श्री श्यामा जी सद्गुरु श्री देवचन्द्र जी के तन में प्रकट होकर तारतम ज्ञान लेकर भारत वर्ष की धरती पर आई। अतः मूल रूप से मुहम्मद साहब और सद्गुरु महाराज द्वारा प्रदत्त ज्ञान में यदि कोई अंतर है तो केवल भाषा का अन्यथा दोनों में एक ही परम तत्व की पहचान कराई गई है। इसीलिए, वाणी में भी कहा गया है :

जो कछु कह्या कतेब ने, सोई कह्या वेद

अतः श्री मुखवाणी पर भी इस्लामोन्मुख होने का आरोप लगाना किसी भी दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता। इसके विपरीत, वाणी वास्तविक धर्म-निरपेक्षता का जीता-जागता उदाहरण है जिसकी वर्तमान समय में कहीं अधिक प्रासंगिकता है।

सर्व धर्म समभाव, विशेषकर हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा एकेश्वरवाद के जिस परम लक्ष्य को लेकर श्री प्राणनाथ जी ने अपना सम्पूर्ण लौकिक जीवन समर्पित कर दिया, वह इसके बिना पूर्ण नहीं हो सकता। यदि वे वाणी में कुरान के गुह्य रहस्यों को उजागर नहीं करते तो सम्पूर्ण मानवता को एक परब्रह्म के झंडे तले लाना संभव नहीं होता। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि हम संकीर्ण मानसिकता से ऊपर उठकर निजानंद दर्शन के बातिनी स्वरूप को समझें अन्यथा शब्दों के जाल में उलझ कर सत्य से दूर हो जायेंगे। साथ ही, हमें यह भी समझना होगा कि केवल भाषा-जन्य भेद के कारण ज्ञान की धारा को सही या गलत नहीं ठहराया जा सकता। वाणी में स्पष्टतः कहा गया है:

ब्राह्मण कहे हम उत्तम, मुस्लिम कहे हम पाक ।
दोउ मुट्ठी एक ठोर की, एक राख तो दूजी खाक ॥



13

अध्यात्म में असहिष्णुता

वि.

सं. 1728 में ही श्री जी ठड़ा नगर से नलिया पधारते हैं। वहाँ उनकी भेंट खंभालिया के एक गरीब सुन्दरसाथ धारा भाई से होती है जो जाति से शुद्र थे। इससे पूर्व जब मस्कत बंदर से सूरजी भाई खंभालिया लौटते हैं तो उनके सहयोग से वहाँ ज्ञान चर्चा का प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है, जिसमें आसपास के बहुत-से सुन्दरसाथ आने लगते हैं। धारा भाई भी अपने परिवार सहित धामधनी के चरणों में आते हैं। एक दिन धारा भाई को लगा कि मानों उनके अन्दर श्री राज जी का आवेश आ गया है और वे अनायास ही श्री राज जी की शोभा-श्रृंगार तथा अष्ट प्रहर की लीला की चर्चा करने लगे। यही नहीं, चर्चा के समय अन्य सुन्दरसाथ को भी श्री राज जी के दर्शन होने लगे। तब सुन्दरसाथ धारा भाई को उच्चासन पर बैठाकर उनकी सेवा और आदर-सत्कार करने लगे।

जब गादीपति बिहारी जी को यह सब पता चला तो उन्हें बहुत बुरा लगा। दरअसल उनकी प्रवृत्ति बहुत ही संकुचित व नकारात्मक थी। वे सोचने लगे कि यदि ऐसे ही चलता रहा तो पंथ तो शुद्रों का हो जायेगा तथा परमधाम के तारतम ज्ञान का कोई अनुसरण नहीं करेगा। उन्होंने तुरन्त सूरजी भाई को संदेश भेजकर नवतनपुरी बुलवाया और सारी स्थिति की जानकारी ली। जब सूरजी भाई ने सबकुछ सच-सच बता दिया तो बिहारी जी को बहुत क्रोध आया और उन्होंने धारा भाई को परिवार

सहित सुन्दरसाथ के समूह से निकालने का आदेश दे दिया। उन्हें लगा कि यह सब माया का प्रपंच है जिसने सुन्दरसाथ को भटका दिया है। बिहारी जी ने सूरजी भाई से यहाँ तक कह दिया कि यदि उन्होंने उनके आदेश की पालना नहीं की तो गारीपति होने के नाते वे उन्हें परमधाम नहीं ले जायेंगे। बिहारी जी के कठोर वचनों को सुनकर सूरजी भाई विचलित हो गये हैं और धारा भाई को परिवार सहित समाज से बहिष्कृत कर दिया।

तत्पश्चात् सूरजी भाई के कहने पर धारा भाई ने परिवार सहित नवतनपुरी जाकर बिहारी जी के चरणों में गिरकर अपना निष्कासन वापस लेने के बहुत प्रार्थना की परन्तु उनका जरा भी दिल नहीं पसीझा। बाद में, जब धारा भाई को पता चला कि श्री जी नलिया पधार रहे हैं तो उनके मन में आशा की एक किरण दोड़ गई। उन्हें लगा कि श्री जी बिहारी जी से कहकर अवश्य उनका निष्कासन रद्द करवा देंगे और उन्होंने धारा भाई को इस बात के लिये आश्वस्त भी कर दिया। जब श्री जी के आमंत्रण पर बिहारी जी नलिये आये तो उनकी अत्यन्त सेवा की गई। यहीं नहीं, अरब यात्रा के दौरान श्री जी ने सुन्दरसाथ से प्राप्त समस्त धनराशि, वस्त्र, आभूषण इत्यादि भी बिहारी जी को भेंट कर दिये। फिर, एक दिन सुअवसर देखकर जब श्री जी ने बिहारी जी से धारा भाई को परिवार सहित पुनः सुन्दरसाथ में सम्मिलित करने का आग्रह किया तो उन्होंने स्पष्ट इंकार कर दिया और चेतावनी भरे शब्दों में उनसे भविष्य में पुनः धारा भाई की सिफारिश न करने के लिये कहा। यद्यपि श्री जी बिहारी जी के अनुचित व्यवहार से बहुत व्यथित हो गये परन्तु गुरुपुत्र होने के नाते तथा समस्त सुन्दरसाथ के अनुरोध पर इस अध्याय को वर्हीं समाप्त करने का निर्णय कर लिया।

परन्तु बिहारी जी की निरंकुशता समाप्त नहीं हुई। जो कोई भी सुन्दरसाथ उनके अनुकूल व्यवहार नहीं करता था, उन्हें वे समाज से बहिष्कृत कर देते थे। रूपाबाई का मन बिहारी जी की सेवा में नहीं लगता था तो उनके प्रति भी बिहारी जी

की भृकुटी टेढ़ी हो गई। इसी प्रकार, जब सूरत से श्री जी के आग्रह पर नवतनपुरी बिहारी जी के दर्शनार्थ दो भाई - शिवजी और रामजी - गये तो उनके साथ भी बिहारी जी ने भेदभावपूर्ण व्यवहार किया। चूंकि शिवजी भाई ने उनके चरणों में पाँच मोहरें भेट की थी तो बिहारी जी उनसे प्रसन्न हो गये जबकि रामजी भाई की दीनहीन अवस्था देखकर बिहारी जी ने उनका प्रणाम तक स्वीकार नहीं किया। यहाँ तक कि उन्होंने श्री जी को भी स्पष्ट रूप से कह दिया कि वे परमधाम के नहीं हैं जब उन्होंने बिहारी जी के द्वारा मनमाने ढंग से बनाये हुए तीन नियमों - (1) नीची जाति के व्यक्ति को तारतम नहीं देना, (2) किसी विधवा स्त्री को तारतम नहीं देना, तथा (3) मेरे (बिहारी जी) और तुम्हारे (श्री जी) अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति द्वारा तारतम नहीं देना - को तर्कपूर्ण ढंग से अमान्य कर दिया।

यह हिन्दू समाज का दुर्भाग्य है कि आज के प्रगतिशील युग में भी कमोबेश यही स्थिति है। आज भी बड़े-बड़े धार्मिक स्थानों के गादीपति, महंत आदि न तो धार्मिक शिक्षा के प्रसार में रुचि लेते हैं, न ही जातियता तथा क्षेत्रियता के बंधनों से ऊपर उठना। उनमें अन्तर्वृष्टि का अभाव है। यही नहीं, अध्यात्म में निष्ठुरता, असहिष्णुता एवं संवेदनहीनता के लिये कोई स्थान नहीं है। इन दोषों से युक्त किसी भी व्यक्ति को, चाहे वह कितना भी बड़ा ज्ञानवान हो, अध्यात्म जगत में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। मानवीय संवेदना से रहित, अशिक्षा और रुढ़िवादिता की आग पर बैठी, संकुचित, संकीर्ण व नकारात्मक मानसिकता समाज को विनाश की गहरी व अंधेरी खाई की ओर धकेल रही है।

हमें यह याद रखना होगा कि जन्म से कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं होता। उसके कर्म और आचरण ही उसे ऐसा बनाते हैं। जन्म के आधार पर निर्मित वर्ण व्यवस्था हमारे राष्ट्र, समाज और धर्म तीनों का विनाश कर रही है। इसका प्रमुख कारण समाज में व्याप्त अशिक्षा, रुढ़िवादिता तथा अंधविश्वास है। अतः जब तक समस्त लोगों के हृदय में ज्ञान की ज्योति नहीं

बीतक

अध्यात्म में असहिष्णुता

जगमगयेगी तथा प्रेम का झरना नहीं फूटेगा, उनका हृदय निर्मल नहीं हो सकता। स्मरण रहे कि समस्त प्राणियों में चाहे वे अमीर हों या गरीब, गोरे हों या काले, स्त्री हो या पुरुष, ब्रह्मण हो चांडाल - एक ही चेतना विद्यमान है। इसीलिये, सबको समान रूप से तारतम ज्ञान के प्रचार-प्रसार का अधिकार है - यह किसी एक उच्च पदासीन व्यक्ति का एकाधिकार नहीं है। अध्यात्म के क्षेत्र में वही व्यक्ति महान होता है जो सभी प्राणियों में समत्व देखता है। अक्षरातीत श्री राज जी सबके हैं - वे किन्हीं चुने हुए व्यक्तियों के लिये नहीं आये हैं। यदि वे स्वयं भी चाहें तो किसी ब्रह्मसृष्टि को परमधाम से नहीं निकाल सकते। इन्द्रावती जी की आत्मा वाणी में स्पष्टः कहती है - “जो कोई लूला पांगला साथ, इन्द्रावती न छोड़े वाको हाथा।”

अंत में, सार रूप में यही कहा जा सकता है कि समाज के जिन अग्रगण्य सुन्दरसाथ पर जागनी का प्रमुख रूप से उत्तरदायित्व है, उन्हें यह दृढ़ संकल्प लेना होगा कि वे बिना किसी भेदभाव के सम्पूर्ण मानव जाति में ब्रह्म ज्ञान की ज्योति जला कर सबको परमधाम की राह दिखायेंगे। साथ ही, हमें हर स्थिति में समाज से जड़ता, अशिक्षा और सूढ़िवादिता को समाप्त करना है। जब हमारे स्वयं के आदर्श उच्च होंगे तो स्वतः ही लोग उनका अनुसरण करेंगे। गादी पूजा के स्थान पर यदि हम परमहंसों के पद चिन्हों पर चलें तो यह सच्चा मार्ग होगा। आवश्यकता है हम अपने धाम हृदय को ही अक्षरातीत श्री राज जी की गादी बनावें।



बाणी का कथन अंतिम सत्य है

जब श्री जी दिल्ली में थे तो उस समय सूरत से लक्ष्मीदास जी अपने परिवार सहित श्री राज जी एवं सुन्दरसाथ की सेवा की भावना से आते हैं, जहाँ वे एक अलग हवेली लेकर निवास करते हैं। अचानक चमत्कारिक रूप से श्री राज जी उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन देने लगे, जिससे उनके प्रति उनका ईमान अटूट हो गया तथा वे मायावी विकारों से पूर्णतः रहित हो गये।

एक दिन श्री राज जी के दिल में हंसी की लीला करने की इच्छा हुई तो उन्होंने लक्ष्मीदास जी से कहा कि आज से आठवें दिन औरंगजेब की आत्मा साकुमार तुम्हारे द्वारा जागृत होगी। जब लक्ष्मीदास जी ने यह बात श्री जी को बताई तो उन्होंने उनका बहुत आदर किया तथा अपने बराबर आसन पर बैठाया। जब श्री जी ने प्रसन्नता पूर्वक लक्ष्मीदास जी से कहा श्री राज जी की इच्छा को शिरोधार्य कर वे जागनी कार्य में उनके पीछे चलने को तैयार हैं, तब लक्ष्मीदास जी ने उनसे कहा कि वे उनके आगे तो नहीं चल सकते, परन्तु बराबरी में अवश्य बैठ सकते हैं। तत्पश्चात्, वे दो-तीन दिन श्री जी के साथ वाले आसन पर बैठे, परन्तु जब कुछ सुन्दरसाथ ने उन्हें व्यंगपूर्वक धामधनी कह कर सम्बोधित किया तो उन्हें लज्जा का अनुभव हुआ तथा उनका हृदय भी कोमल हो गया।

जब आठवें दिन श्री राज जी ने उन्हें पुनः दर्शन दिया, तब लक्ष्मीदास जी ने जैसे ही उनसे औरंगजेब को जगाने के वचन को पूर्ण करने के लिये कहा, वे

अदृश्य हो गये। इसी प्रकार, जब सुन्दरसाथ ने उनसे इस विषय में प्रश्न किया तो उनका सिर नीचा हो गया। निःसदेह, पांचवे दिन की लीला में जागनी की सारी शोभा धामधनी ने महामति जी को दी है तथा यह किसी अन्य तन से नहीं हो सकती, यहां तक कि सद्गुरु धनी श्री देवचन्द्र जी के तन से भी नहीं। कलस (गुजराती) वाणी में स्पष्ट रूप से कहा गया है :

इन्द्रावती ने हूँ अंगे संगे, इन्द्रावती मारो अंग।

जे अंग सौंपे इन्द्रावती ने, तैने प्रेमे रमाडु रंग ॥ (12/66)

सुख देऊं सुख लऊं, सुखमां ते जगंबु साथ।

इन्द्रावती ने उपमा, में दीघी मारे हाथ ॥ (12/68)

लेकिन आजकल सारहीन बातों से श्री प्राणनाथ जी की महिमा को छोटा करने का दुस्साहस किया जा रहा है। कोई यह नहीं सोचता कि आखिर प्राणनाथ कहते किसको हैं – जो सर्वशक्तिमान है, सकल गुण निधान है तथा जिसके सत अंग अक्षर ब्रह्म के एक इशारे से असंख्यों ब्रह्माण्ड पल भर में बन कर लय को प्राप्त हो जाते हैं। आज श्री प्राणनाथ जी को न केवल संत, आचार्य, महापुरुष आदि कहकर उनकी महिमा को कम किया जा रहा है वरन् स्वयं को उनकी ही परम्परा का आचार्य माना जा रहा है। यह कैसी मानसिकता है? याद रखिये, किसी भी ब्रह्माण्ड में श्री प्राणनाथ जी की महिमा के समान न तो कोई हुआ है, न है और न ही कोई होगा।

वस्तुतः हंसी की उक्त लीला के द्वारा धामधनी श्री राज जी हम सुन्दरसाथ को एक महत्वपूर्ण सिखापन देना चाहते हैं कि तारतम वाणी का कथन सर्वोपरि तथा परम सत्य है। धामधनी ने स्पष्टतः कहा है कि यदि कोई विद्वान्, परमहंस, गादीपति या मैं भी स्वयं वाणी के विपरीत कुछ कहूँ तो उसे भी सत्य नहीं माना जाए। यही सिद्ध करने के लिये ही उन्होंने लक्ष्मीदास जी को वचन देकर स्वयं नहीं निभाया क्योंकि वह वाणी के सर्वथा विपरीत था। हमें याद रखना होगा कि जो वाणी का

कथन है, वहीं अंतिम सत्य है। यदि किसी परमहंस ने कोई चमत्कारिक लीला की है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह श्री प्राणनाथ जी से बड़ा हो गया। यदि ऐसी लीला कहीं होती है तो वह भी मूल स्वरूप श्री राज जी की कृपा से होती है। हम यदि श्री प्राणनाथ जी से अपना पृथक् अस्तित्व खड़ा कर स्वयं को उनसे श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं यह तो बहुत बड़ी भूल ही नहीं बल्कि पाप है, जिसका कोई प्रायश्चित नहीं हो सकता।

अतः यदि आज सारा समाज वाणी के कथनों का अनुशीलन करने लगे तो सबकी आत्मा जागृत हो सकती है, लेकिन सुन्दरसाथ व्यक्ति तथा स्थान विशेष को अधिक महत्व देते हैं - उनके लिये अपने गुरु महाराज का कथन ही सर्वोपरि है, चाहे वह वाणी के विपरीत ही क्यों न हो। हाँ, यह अवश्य है कि वाणी का अर्थ वास्तविक होना चाहिए तथा उसमें किसी प्रकार का पक्षपात नहीं होना चाहिए। निष्पक्ष हृदय से वाणी का जो अर्थ निकले और यदि वह सत्य है तो उसे ही परम सत्य मानकर सबको स्वीकार करना चाहिए। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वाणी के शाब्दिक अर्थ अलग होते हैं और भावनात्मक अर्थ अलग। वाणी में कहीं भी किसी प्रकार की त्रुटि या संशय नहीं है, परन्तु कई बार प्रसंग के अनुकूल अर्थ करना आवश्यक होता है ताकि उसका वास्तविक आशय प्रकट हो सके। यदि हम शब्दार्थ को पकड़ेंगे तो वास्तविक अर्थ से वंचित हो जायेंगे।

इसी प्रकार, वाणी के शब्दों, विशेषकर अरबी/फारसी के शब्दों, में अपनी इच्छा से परिवर्तन करने की प्रवृत्ति भी उचित नहीं है। जो लोग ऐसा करते हैं उन्हें आत्मचिंतन करना चाहिए कि क्या वे श्री महामति जी से अधिक ज्ञानवान् हो गये हैं? यह आवश्यक है कि वाणी में अनेक स्थानों पर लिखने में त्रुटि हो सकती है परन्तु हमें उसे परिवर्तित/सुधार किये बिना प्रसंग के अनुकूल उसका शब्दार्थ/भावार्थ करना चाहिए।

बीतक

वाणी का कथन अंतिम सत्य है

अंत में, सार रूप में कहा जा सकता है कि तारतम वाणी स्वयं अक्षरातीत श्री राज जी ने श्री महामति जी के धाम हृदय में विराजमान होकर कही है। श्री इन्द्रावती जी ने भी एक स्थान पर कहा है – “श्री मुख वाणी धनिये कही, कहने की शोभा कालभूत को दी” अर्थात् मैंने तो इसका एक शब्द भी नहीं कहा, कहने वाले तो स्वयं धामधनी हैं। इसलिये हम इस ब्रह्मवाणी का जितना सम्मान करेंगे, श्री राज जी के वचनों का सम्मान करेंगे। हमें अपनी अंतर्रात्मा से पूछना होगा कि हम तारतम वाणी को प्राथमिकता दें या व्यक्ति विशेष के प्रति अपनी व्यक्तिगत आस्था को?



15

पुरुषार्थ का महत्व

वि.

सं. 1735 में हरिद्वार के महाकुंभ में विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों, यथा वैष्णवों के चारों सम्प्रदाय, षट्दर्शन तथा दसनाम सन्यासियों, के साथ शास्त्रार्थ के पश्चात् जब सभी ने श्री जी को विजयाभिनन्द बुद्ध निष्कलंक स्वरूप घोषित कर उनके नाम की धजा फहराई तो उसकी सूचना नवतनपुरी में बिहारी जी के पास भी पहुँची। उस समय बिहारी जी की निरंकुशता, ज्ञान और भक्ति-शून्यता तथा संवेदनहीनता ने वहाँ आने वाले सुन्दरसाथ की संख्या लगभग नगण्य कर दी थी, जिसके फलस्वरूप उन्हें आर्थिक संकट से जूझना पड़ रहा था। साथ ही, बिहारी जी चाहते थे कि श्री जी किसी प्रकार पुनः उनकी गादी पर ईमान ले आवें। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखकर उन्होंने नाग जी, प्रेम जी तथा संग जी को श्री जी से मिलने दिल्ली भेजा।

इससे पूर्व वेद और कतेब के एकीकरण की बात श्री जी ने सभी स्थानों पर सुन्दरसाथ को भिजवा दी थी। नवतनपुरी से जो तीन सुन्दरसाथ दिल्ली आये थे, वे बिहारी जी की गादी के प्रति निष्ठावान थे तथा निजानंद का जो शाश्वत सत्य धर्म है, उससे इन्हें द्वेष-सा था। फलतः ये प्रारम्भ से ही श्री जी का विरोध करते थे। स्मरणीय है कि ऐसे लोग अपने आत्म-स्वरूप में कभी स्थित नहीं हो पाते। अतः जब ये श्री जी की सभा में आये तो वहाँ मोहम्मद साहब और कतेब ग्रन्थों की चर्चा सुनकर आश्चर्य में पड़ गये। लेकिन शीघ्र ही श्री जी की चर्चा में श्री राज जी के

जोश की लीला प्रत्यक्ष सूप से दृष्टिगोचर होने से उन तीनों का अहं भाव शांत हो गया। उन्हें लगा कि सद्गुरु श्री देवचन्द्र जी ही श्री प्राणनाथ जी के स्वरूप में लीला कर रहे हैं। तत्पश्चात् उन्होंने श्री जी के प्रति अपनी पूर्ण आस्था प्रकट कर दी। साथ ही, उन्होंने समस्त सुन्दरसाथ को पत्र लिखकर सूचित भी कर दिया कि सद्गुरु महाराज की साक्षात् बैठक बिहारी जी में नहीं बल्कि श्री मिहिर राज जी (श्री जी) के अन्दर है।

लेकिन शीघ्र ही उन तीनों में से नाग जी व संग जी को पुनः माया ने धेर लिया और श्री जी पर उनका विश्वास तिनके के समान टूट गया। प्रेम जी का ईमान अडिग रहा तथा वे दिल्ली में श्री जी के चरणों में रह गये जबकि नाग जी व संग जी वापस नवतनपुरी लौट गये। वहाँ बिहारी जी को जब सम्पूर्ण घटनाक्रम की जानकारी मिली तो वे उन दोनों पर बहुत क्रोधित हुए परन्तु उनका यह नाटक शीघ्र ही समाप्त हो गया।

वस्तुतः बिहारी जी के पास परमधाम का कोई ज्ञान नहीं था, ध्यान-चितवनी की प्रक्रिया उन्हें पता नहीं थी तथा किसी सुन्दरसाथ की आत्म-जागृति के लिये वे कोई प्रयास नहीं करते थे। ऐसी स्थिति में केवल गादीपति बनकर सुन्दरसाथ से स्वयं को धामधनी कहलाने मात्र से तो चढ़ावा आ नहीं सकता था। इसके लिये कुछ-न-कुछ पुरुषार्थ तो करना ही पड़ता।

नीति का कथन है कि जो बैठा रहता है, उसका भाग्य भी बैठा रहता है, जो सोया रहता है, उसका भाग्य भी सोया रहता है, तथा जो चलता रहता है, उसका भाग्य भी उसके पीछे चलता रहता है। जिस समाज में लोगों में आलस्य-प्रमाद होता है, वहाँ कंगाली और भुखमरी का साम्राज्य स्थापित हो जाता है तथा धीरे-धीरे वह विनाश के कगार पर पहुंच जाता है। अतः हमारे देश में भी चाहे युवा वर्ग हो या वृद्ध वर्ग, आलसी हो गया है जो देश के भविष्य के लिये बहुत धातक है। हमें याद रखना होगा कि पुरुषार्थ ही व्यक्ति का भाग्य निर्माण करता है और जब वह पुरुषार्थ करना

छोड़ देता है, तब न केवल वह स्वार्थी हो जाता है वरन् समाज और राष्ट्र के लिये बोझ भी बन जाता है।

आज हमारे समाज में भी कमोबेश यही प्रक्रिया चल रही है। हमारे 400 के करीब मन्दिर हैं परन्तु उनकी कार्य-पद्धति सेवा-पूजा से आगे कुछ नहीं है। कहीं से भी न तो ब्रह्म ज्ञान का प्रचार-प्रसार हो रहा है, न ही साहित्य व चितवनी पर ध्यान दिया जा रहा है और न ही सामाजिक जन-जागृति हो रही है। न ही, कहीं से वाणी के उच्चस्तरीय विद्वान निकल पा रहे हैं। हम आज भी युवा वर्ग पर वर्षों पुरानी विचारधारा थोपना चाहते हैं - पाँच बार निजनाम पढ़िये, परिक्रमा कीजिए, चरणमृत-प्रसाद लीजिए - बस हो गया। यह उस समय तो ठीक था जब वाणी प्रकाशित नहीं हुई थी तथा ज्ञान का प्रसार नहीं हुआ था। ऐसे में कुछ नियम बना दिये गये जिससे कि सुन्दरसाथ की धार्मिक आस्था बनी रहें। परन्तु वर्तमान समय में इस कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं रह गई है। आज शिक्षा और ध्यान का अधिक महत्व हो गया है। पूरी वाणी पुकार-पुकार कर कह रही है - आप देखो, औरों को दिखाओ। याद रखिये, यदि इसी प्रकार चलता रहा अर्थात् मन्दिरों से ज्ञान का प्रकाश नहीं हुआ, भक्ति की धारा नहीं बही और युवा वर्ग को धर्म की सही राह नहीं दिखाई गई तो धीरे-धीरे मन्दिरों में न केवल श्रद्धालुओं की संख्या कम हो जायेगी वरन् वे लुप्त भी हो जायेंगे। निःसंदेह मन्दिरों व अन्य धार्मिक संस्थाओं के संचालन व संधारण के लिये धन की आवश्यकता होती है, परन्तु इसके लिये सबको मिलकर पुरुषार्थ करना होगा, तभी हम आत्म-जागृति के अपने मूल लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे।



16

खंडनी और जागनी

श्री

बीतक साहब में ऐसे कई प्रसंग आते हैं जब श्री जी सुन्दरसाथ की खंडनी करते हैं। उदाहरण के लिए, दीपबन्दर में जयराम कंसारा को तथा मस्कत बंदर में महाव जी भाई को सावचेत करते हुए फटकार लगाते हैं। जयराम कंसारा को तो कुते तक की उपमा दे देते हैं जो हड्डी को छूसते हुए अपने ही दांतों से निकलने वाले खून को पीकर सोचता है कि वह हड्डी से निकले खून को पी रहा है। इसी प्रकार छोटी पत्री में औरंगेजब की नजरबंदी में रह रहे १२ मोमिनों को स्पष्ट रूप से प्रबोधित करते हुए कहते हैं कि वे अन्य सुन्दरसाथ को पत्र लिखते समय उनकी रुढ़िवादिता का खंडन करें। यहां तक कि वे एक बार अपने बड़े भ्राता हरिवंश ठाकुर को भी फटकार लगाते हैं। सरकारश्री पर भी उनके जीवनकाल में इसी प्रकार के आरोप लगते रहे हैं।

उक्त प्रसंगों से सुन्दरसाथ के मन में स्वाभाविक रूप से एक प्रश्न उठता है कि क्या किसी को जाग्रत करने के लिए उसकी खंडनी करना आवश्यक है? इस प्रश्न का उत्तर 'कलश हिन्दुस्तानी' वाणी की निम्न चौपाई में दिया गया है:

नैन चढ़ाए साथ न जागे, यों न जागनी होए।

मूल घर देखाइए, तब क्यों कर रेहेवे सोए॥ (क.हि. 23/9)

अर्थात् श्री महामति जी कहते हैं कि सुन्दरसाथ को क्रोध में फटकारने मात्र से वे जाग्रत नहीं होंगे और न ही इस तरीके से जागनी लीला का विस्तार हो

सकता है। यदि हम सुन्दरसाथ को परमधाम की पहचान करायेंगे तो वे माया में क्यों रहेंगे? इसी प्रकरण की अगली चौपाई में भी कुछ इसी प्रकार के भाव प्रकट करते हुए श्री महामति जी कहते हैं :

खंडनी कर खीजिए, जागे नहीं इन भांत ।

दीजे आप ओ लखाए के, यों साख देवाए साख्यात ॥ (क.हि. 23/10)

अर्थात्, यदि हम जागनी के नाम पर सुन्दरसाथ की खंडनी करके ही अपना क्रोध दिखाते रहेंगे, तो इस प्रकार से किसी की भी जागनी नहीं होगी। सुन्दरसाथ को जागृत करने के लिए आवश्यक है कि उन्हें प्रत्यक्ष रूप से धर्मग्रन्थों की साक्षी देकर उनके आत्म-स्वरूप की पहचान कराई जाए। क्रोध मन का एक विकार है। अतः जब हम स्वयं ही विकारग्रस्त हो जायेंगे तो दूसरों के हृदय में ज्ञान का उजाला कैसे करेंगे? यदि हमें किसी व्यक्ति में कोई सुधार करना है तो सर्वप्रथम उसका हृदय जीतना होगा। उसकी खंडनी कर या नीचा दिखाकर यह बिल्कुल भी संभव नहीं है।

अब यहाँ एक अन्य प्रश्न यह भी उठता है कि यदि खंडनी करना उचित नहीं तो श्री जी ने क्यों की? पहली बात तो यह कि ऐसा मूल-स्वरूप श्री राज जी के आदेश से हुआ ताकि आने वाले समय में कोई भी सुन्दरसाथ इस गलती को नहीं दोहराये। सम्पूर्ण वाणी में श्री जी ने किसी भी सुन्दरसाथ के लिए कठोर शब्दों का प्रयोग नहीं किया वरन् स्वयं को चोर, चांडाल, पतित आदि न जाने किस-किस शब्द से सम्बोधित किया। सुन्दरसाथ को तो “तुम स्याने मेरे साथ जी” तथा “प्रीतम मेरे प्राण के” तक कहा है। इसी प्रकार, सर्वशक्तिमान परमात्मा को हम न जाने कितना भला-बुरा कह देते हैं जब हमारी कोई लौकिक इच्छा पूर्ण नहीं होती, परन्तु वह उत्तर में कुछ नहीं कहता। वृक्ष पर पत्थर मारिये, बदले में वो हमें मीठे फल देता है, परन्तु यह कभी नहीं कहता कि हमने उसे पत्थर क्यों मारा?

वस्तुतः महानता का आधार क्षमा है। जिसका हृदय जितना निर्मल होगा, वह उतना ही महान होगा। श्री जी ने भी जब-जब खंडनी के कठोर शब्दों का प्रयोग किया, उसमें सुन्दरसाथ विशेष के अहित की नहीं बल्कि हित की भावना होती थी। यह कार्य भी हमारा शुभचिन्तक ही कर सकता है। एक सच्चा शुभचिन्तक न तो आपके मुँह पर आपकी प्रशंसा करेगा और न ही पीठ पीछे निन्दा।

इसमें भी कोई मतभेद नहीं है कि जहां धर्म का पालन न हो रहा हो वहां हमें उसके बचाव में अवश्य आगे आना चाहिए, क्योंकि यदि हम मूक-दर्शक बने अन्याय होता देखेंगे तो उसमें पूर्णतः भागीदार मान जायेंगे।

परन्तु हमें असत्य का खंडन शालीनता-पूर्वक करना चाहिए क्योंकि यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो सत्य की रक्षा कैसे होगी? जब असत्य प्रबल हो रहा हो और हम मौन रहते हैं तो यह पाप को बढ़ावा देने के समान है। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि विकारग्रस्त होकर चीखे-चिल्लाये। क्रोध करना बुरी बात नहीं है परन्तु क्रोध में विवेक खोना बुरा है। बादल बरसते जाते हैं और आगे बढ़ जाते हैं। परन्तु वे कभी भी अपने मुख से अपना गुणगान नहीं करते। यदि हम अपने विकारों पर विजय नहीं पा सकते तो सुन्दरसाथ की जागनी कैसे करेंगे? दूसरों को दोष देने से पूर्व हमें अपने अन्दर झांकने की आवश्यकता है।

यह सत्य है कि किसी को प्रबोधित करने की शैली प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग होती है परन्तु यह भी सत्य है कि जागनी कार्य कटु वचनों से नहीं किया जा सकता। हमारी संस्कृति भी यही कहती है कि हम दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसा हम उनसे अपेक्षा करते हैं। किसी को डंडा मारकर उससे प्रेम की आशा करना मूर्खतापूर्ण है। धाम धनी स्वयं वाणी में कहते हैं - “ऐ मोहे सह्यो न जावहीं, जो कहे साथ में कटु वचन।” शालीनता के साथ असहमति जताना हर व्यक्ति का नैतिक अधिकार है। परन्तु दूसरों की खंडनी करना अथवा नीचा दिखाना

किसी समस्या का समाधान नहीं है। एक अच्छा डॉक्टर रोगी का ईलाज करता है न कि उसे मरनासन्न देखकर हाय-तौबा मचाता है।

अंत में, सार रूप में यही कहा जा सकता है कि हमें महापुरुषों के वचनों का पालन अवश्य करना चाहिए परन्तु उनकी नकल नहीं, क्योंकि इन दोनों में बहुत अन्तर है। खंडनी करना एक कमजोर व्यक्ति की निशानी है। जिसने काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार पर विजय नहीं पाई, वह समाज को कुछ नहीं दे सकता। इसलिए, हमारी वाणी ऐसी होनी चाहिए जिससे किसी को कष्ट न हो, प्रिय हो और हितकारी हो। सत्य बोलें, प्रिय बोलें अर्थात् सत्य अप्रिय न हो, हमें ऐसा प्रयास करना चाहिए। हमें अपनी विचारधारा को शालीनता के साथ लोगों के समक्ष रखना चाहिए न कि कटु शब्दों के सहारे थोपना चाहिए। यदि हम सत्य और प्रेम से समस्त सुन्दरसाथ को गले लगाकर ब्रह्मज्ञान का प्रकाश फैलाते हैं तो निश्चित रूप से परमधाम में श्री राज जी को दिये गए वचन की पालना में खरे उतरेंगे।



मोमिनों की कुर्बानी

मे

इता आने से पूर्व श्री जी ने कभी भी कतेब पक्ष की चर्चा नहीं की थी। लेकिन जैसे ही उन्होंने मस्जिद से कलमा सुना तो उनके अन्दर से कुरान का ज्ञान प्रकट होना प्रारम्भ हो गया। इस प्रकार, जब श्री जी के हृदय में वेद (तारतम) और कतेब (कुरान) पक्षों का गुह्य ज्ञान समाहित हो गया तो उनके लिये न केवल विभिन्न धर्मों का एकीकरण कर एक सर्वशक्तिमान परमात्मा की अवधारणा प्रचारित करना बल्कि मानव समाज में व्याप्त दज्जाल (अज्ञानता) को मारना भी आसान हो गया। तब उन्होंने सर्वप्रथम शरियत के विस्तृद्व सत्य ज्ञान की ज्योति फैलाने के लिये दिल्ली जाकर तत्कालीन मुगल बादशाह औरंगजेब से मिलने का निश्चय किया। वैसे भी सद्गुरु श्री देवचन्द्र ने अपने अन्तर्धान से पूर्व उनसे परमधाम की साकुण्डल व साकुमार आत्माओं को जगाने पर विशेष बल दिया था, जो राजधानों में आई हुई हैं। श्री जी को उनकी अन्तर्तामा से ऐसी आवाज सुनाई दे रही थी कि यदि औरंगजेब (साकुमार) की आत्मा जागृत हो जाती है तो न केवल हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक एकता का सूत्रपात हो जायेगा बल्कि धर्म के नाम पर दोनों समुदायों में होने वाले वैमनस्य को समाप्त किया जा सकेगा। इसके लिए श्री जी की छत्रछाया में सुन्दरसाथ ने त्याग और बहादुरी की जो मिसाल प्रस्तुत की, उसका इतिहास में कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता।

इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर श्री जी ने दिल्ली आते ही प्रयास करने प्रारम्भ कर दिये। इस बीच वि.सं. 1735 में उनको हरिद्वार में आयोजित कुम्भ मेले में जाना पड़ा। हरिद्वार से लौटने के पश्चात् श्री जी ने इस दिशा में प्रयास तेज कर दिये। इस हेतु उन्होंने न केवल विभिन्न कतेब ग्रन्थों को एकत्रित किया बल्कि उनका गहन अध्ययन कर इस नतीजे पर पहुँचे कि दोनों ही धर्मों में एक ही परमात्मा (अल्लाह-तहाला) की बात कही गई है, केवल भाषा का अन्तर है। परन्तु उस युग में शरियत के कठुरपंथी शासकों से लड़ना सरल नहीं था। इसके लिये अपनी जान हथेली पर लेकर मोमिनों ने जो कुर्बानी दी, उसे कोई भुला नहीं सकता।

जब अनेक प्रयास करने के पश्चात् भी बादशाह औरंगजेब से मिलने की कोई संभावना नहीं दिख रही थी तो सुन्दरसाथ ने सीधे ही शेर की मान्द में घुसने का निश्चय कर लिया। इसके लिये जिन 12 मोमिनों ने स्वयं को प्रस्तुत किया, उनमें सर्वश्री लालदास जी, भीम भाई, सोमजी भाई, खिमाई भाई, नागजी भाई, शेखबदल, कायम मुल्ला, दयाराम जी, चिन्तामणी जी, चंचल दास जी, गंगाराम जी तथा बनारसी दास जी सम्मिलित थे। ये समस्त सुन्दरसाथ श्री जी के प्रति पूर्णतया समर्पित थे।

इससे पूर्व धामधनी के आवेश से ‘सनंध’ ग्रन्थ का अवतरण भी हो चुका था जिसमें कुरान के 30 पारों के बातिनी अर्थ समाहित थे। इससे श्री जी व सुन्दरसाथ के मन में आशा की एक किरण जागी कि यदि इस वाणी को औरंगजेब किसी प्रकार से सुन लेता है तो वह अवश्य ही जागृत हो जायेगा। परन्तु जब शेखबदल जी ने जामा मस्जिद में जाकर इसका गायन किया तो किसी ने हिन्दुस्तानी भाषा में होने के कारण तो किसी ने शरा का हवाला देकर इससे मुँह मोड़ लिया।

औरंगजेब के शासन काल में इससे पूर्व ऐसा कभी नहीं हुआ था कोई व्यक्ति उसके दरबार में जाकर उसे कठोर शब्दों में फटकार लगाये, परन्तु श्री जी के

आदेश पर 12 सुन्दरसाथ ने यह करके दिखाया। औरंगजेब एक बार तो दहल गया और उनसे आँख मिलाने का साहस भी नहीं कर पाया। उस समय मुगल बादशाह के सामने ऊँची आवाज में बोलने वाला जिन्दा नहीं लौटता था, परन्तु मोमिनों ने श्री राज जी के बल पर उसे खुली चुनौती दी कि उसका आचरण धर्मानुकूल नहीं है। इस प्रकार, यह सीधे ही अपनी मौत को निमंत्रण देने का समान था, परन्तु सुन्दरसाथ ने बिना इसकी चिंता किये इस कार्य को बखूबी अंजाम दिया।

मोमिनों की निडरता देखकर जहाँ बादशाह के दरबारी हतप्रभ रह गये, वहीं औरंगजेब ने उनकी बातों को बड़े धैर्यपूर्वक सुना और उसे विश्वास हो गया कि ये ईमाम मेहंदी के ही साथी हैं तथा उनका पैगाम लेकर आये हैं। यद्यपि मोमिनों की मांग पर औरंगजेब उनसे एकांत में मिलने को तैयार भी हो गया, परन्तु दरबारियों ने उसकी मनःस्थिति को भांप कर उसके मस्तिष्क में संशय उत्पन्न कर दिया कि जब तक मोमिनों वास्तविकता की जाँच नहीं हो जाती इनसे एकांत में मिलना उचित नहीं होगा, क्योंकि ये किसी शत्रु के भेजे हुए भी हो सकते हैं। तत्पश्चात् बादशाह ने सभी मोमिनों को कोतवाल सिद्दीक फौलाद को इस ताकीद के साथ सौंप दिया कि जाँच के दौरान उनका पूर्ण ध्यान रखा जाय तथा उन्हें किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होनी चाहिये।

परन्तु कोतवाल ने जाँच के नाम पर न केवल मोमिनों से दुर्व्यवहार किया बल्कि उनपर अत्याचार भी ढाया। उसने बहुत चतुराई से मोमिनों से श्री जी के विषय में जानना चाहा, किन्तु वे उनके जुल्म सहकर भी एक शब्द नहीं बोले। यह थी उनकी अपने हादी श्री प्राणनाथ के प्रति निष्ठा और प्रेम की भावना। क्या आज हम सुन्दरसाथ में ऐसी भावना है? हमारे ऊपर तो जरा-सा लौकिक संकट आ जाता है तो हम श्री राज जी को ही दोष देने लगते हैं, परन्तु धनी के प्रेम में झूबे हुए सुन्दरसाथ को औरंगजेब की बादशाहत से कोई भय नहीं था।

इसके पश्चात् बादशाह औरंगजेब के आदेश से मोमिनों ने काजी शेरख इस्लाम से कुरान और हदिसों से क्यामत तथा ईमाम मेहंदी के जाहिर होने के प्रमाणों के सम्बन्ध में कई दिन तक वार्ता की। यद्यपि वह मन-ही-मन उनसे पूर्णतः संतुष्ट हो गया था परन्तु उसने यह प्रकट नहीं होने दिया। वास्तव में, उसे भय था कि यदि बादशाह को उनकी बातों पर विश्वास हो गया तो वह निश्चित रूप से अपनी बादशाहत छोड़कर श्री जी के चरणों में चला जायेगा। अतः उसने मोमिनों से यह कहकर अपना पल्ला छुड़ाया कि जब वे स्वतः जाहिर हो जायेंगे, तब हम सब उनके चरणों में ईमान ले आयेंगे।

वस्तुतः सुन्दरसाथ विनम्रता की प्रतिमूर्ति होते हैं और वे किसी को भी हानि नहीं पहुँचाते। इनके दिल में साक्षात् युगल-स्वरूप की बैठक होती है। जब श्री जी को कान्हजी भाई के माध्यम से दिल्ली में मोमिनों पर औरंगजेब के दरबारियों द्वारा दी गई यातनाओं के बारे में पता चलता है तो उन्हें बहुत क्रोध आता है। साथ ही, उनका मन बहुत व्यथित हो जाता है। ऐसे में उनके हृदय में जो पीड़ा उत्पन्न होती है उसे वे एक पत्र के माध्यम से 12 सुन्दरसाथ को भेजते हैं जिससे कि उनका मनोबल बना रहे। यह मोमिनों की अविस्मरणीय कुर्बानी ही है जो श्री जी, जिनके अन्दर साक्षात् अक्षरातीत श्री राज जी की बैठक है, उन्हें “मेरे प्राणों के प्रियतम, मेरे जीवन के आधार सुन्दरसाथ जी” कहकर सम्बोधित करते हैं। यही नहीं, मोमिनों ने धैर्य और साहस का परिचय देते हुए जो अपने कर्तव्य को निभाया, उसकी इस संसार में कोई दूसरी मिसाल नहीं है। यह सब लोकलाज के बंधन काटकर ही संभव था जो आज सर्वत्र उनकी महिमा का गुणगान हो रहा है। उन्हें मृत्यु का जरा-भी भय नहीं था, क्योंकि उन्हें पता था कि जब तक श्री जी का वरदहस्त उनके सिर पर है, संसार का कोई भी अस्त्र-शस्त्र उनका बाल भी बांका नहीं कर सकता।

उक्त घटनाक्रम से हमें यही शिक्षा मिलती है कि सत्य मार्ग पर चलते हुए हमें किसी भी परिस्थिति में साहस नहीं छोड़ना चाहिए तथा धामधनी श्री राज जी

बीतक

मोमिनों की कुर्बानी

पर अटूट विश्वास लेकर आगे बढ़ते रहना चाहिए। इस संसार में सच्चे मोमिन वही हैं जिन्होंने तन-मन-धन से स्वयं को जागनी कार्य में न्यौछावर कर दिया तथा एक पल के लिये भी धनी के चरणों को नहीं छोड़ा। यद्यपि अपनी शासकीय विवशताओं के कारण औरंगजेब ने श्री प्राणनाथ जी के हकीके दीने-इस्लाम के पैगाम को स्वीकार नहीं किया, परन्तु इसके लिये 12 शिरोमणी मोमिनों ने जो कुर्बानी दी तथा शरातोरा के विरुद्ध बादशाह तथा उसके काजियों-मौलवियों को वैशिक धार्मिक एकता का संदेश दिया, वह इतिहास में सदैव अविस्मरणीय रहेगा। उनके इस प्रयास का दूरगामी परिणाम यह हुआ कि निजानंद दर्शन का एक ऐसा मंच तैयार हो गया जिसमें संसार का प्रत्येक मतावलम्बी शाश्वत ब्रह्मानंद का रसपान कर सकता है। यह एक ऐसी राह है जिसमें रुद्धियों, कर्मकाण्डों, जाति-पांति तथा ऊँच-नीच के क्षुद्र विचारों के लिये कोई स्थान नहीं है।



18

धर्म में त्याग और तप की महत्ता

वि.

सं. 1736 में श्री जी कुछ सुन्दरसाथ के साथ दिल्ली छोड़कर उदयपुर आते हैं। स्थानीय सुन्दरसाथ कुछ समय पश्चात् आने का कहकर दिल्ली ही रुक जाते हैं। मुकुन्द दास जी को श्री जी पहले ही जागनी कार्य के लिये उदयपुर भेज देते हैं। दिल्ली से कई दिनों की पैदल यात्रा करने के पश्चात् न केवल श्री जी एवं सुन्दरसाथ थक गये थे बल्कि भूखे-प्यासे भी थे। जब मुकुन्द दास जी को पता चला तो उन्होंने बाजार से खाने-पीने का सामान मंगवा कर सबकी भूख शांत की। इसी प्रकार, उदयपुर में ही कुछ सुन्दरसाथ के मन में उन सुन्दरसाथ के प्रति भेदभाव की भावना उत्पन्न हो गई जो दिल्ली में चार माह तक मुसलमानों की कैद में रहे थे। श्री जी को यह असहनीय हुआ और भेदभाव करने वाले सुन्दरसाथ की तीखी खण्डनी कर सबको वैरागी भेष धारण करने का आदेश दे दिया। सर्वप्रथम, श्री जी ने स्वयं अपने सिर के बाल मुंडवा कर वैरागी भेष धारण किया, तत्पश्चात् अन्य सुन्दरसाथ ने। इससे सबके मन में आया विकार समाप्त हो गया।

इसी प्रकार वि.सं. 1737 में उदयपुर से सुन्दरसाथ सहित श्री जी फकीरी भेष में जब मन्दसौर आते हैं तो वहाँ भी कुछ ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं कि सब सुन्दरसाथ को अलग-अलग स्थानों पर छिपना पड़ता है। फलस्वरूप, भोजन के लिये उन्हें घर-घर जाकर भिक्षा मांगनी पड़ी। उल्लेखनीय है कि इन

सुन्दरसाथ में श्री लालदास जी व श्री चिंतामणी जी भी सम्मिलित थे जो किसी समय क्रमशः कई जहाजों के स्वामी तथा हजार शिष्यों के गुरु थे और अपना सबकुछ छोड़कर श्री जी के चरणों में आ गये थे। सभी सुन्दरसाथ भिक्षा में जो कुछ भी प्राप्त होता था, उसे लेकर श्री जी के पास आते थे तथा मिलकर प्रेमपूर्वक ग्रहण करते थे। लेकिन किसी भी सुन्दरसाथ के चेहरे पर न तो छिपने की और न ही भिक्षा मांगने की शिकन तक दिखाई देती थी बल्कि सभी प्रसन्न होकर आगे बढ़कर श्री जी को अपनी झोली का भोजन खिलाते थे। इसी प्रकार, बाईं जी भी सुन्दरसाथ की बहुत प्रेम से सेवा करती थी। सुन्दरसाथ द्वारा भिक्षा में प्राप्त भोजन को वे सबको प्रेम-पूर्वक परोसती थी। सभी सुन्दरसाथ धामधनी की इस लीला को भी अपना सौभाग्य मानकर प्रसन्न होते थे।

यहाँ प्रश्न उठता है कि श्री जी, जिनके धाम हृदय में साक्षात् युगल-स्वरूप विराजमान हैं, को ऐसी कष्ट-प्रधान लीला करने की क्या आवश्यकता थी? जिनके चरण-कमलों के प्रताप से पन्ना की धरती हीरे उगलने लगती है, वे चाहते तो एक संकल्प मात्र से पल भर में सुन्दरसाथ के लिये नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनों की व्यवस्था कर सकते थे। परन्तु ऐसा न करके उन्होंने न केवल प्रकृति की मर्यादा निभाई बल्कि सुन्दरसाथ को कष्टों की अग्नि में तपाकर हमारे लिये त्याग और समर्पण की एक ऐसी मिसाल भी छोड़ी जिसका अनुपालन आने वाले हम सुन्दरसाथ के लिए आवश्यक था। स्मरणीय है कि स्वर्ण अग्नि में तपकर ही कुन्दन बनता है। उनका मत था कि वैभव-विलास सन्यासियों के लिये नहीं है।

लेकिन आज इसके बिलकुल विपरीत हो रहा है। सन्यास आश्रम अर्थात् त्याग और तपस्या। एक ऐसा स्वरूप, जिसके चरण-कमल पड़ने से यह ब्रह्मांड अखंड होगा, वो कई दिनों से भूखा-प्यासा है एवं भिक्षा में प्राप्त भोजन ग्रहण करता है ताकि छठे दिन की लीला में सुन्दरसाथ, विशेषकर जिन पर समाज का नेतृत्व करने का उत्तरदायित्व है, को तप और त्यागमय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा

मिले। हम ब्रह्मसृष्टि होने का दावा तो करते हैं परन्तु क्या हमारी रहनी ऐसी है? आज हम पूर्णरूप से ऐश्वर्य और विलासिता में डूबे हैं। हमसे अच्छा उदाहरण तो शंकराचार्य, बुद्ध, महावीर स्वामी आदि जैसे महापुरुषों ने प्रस्तुत किया जो जीव सृष्टि होते हुए भी त्याग और तपस्या में हमसे कहीं आगे थे। बुद्ध ने जहाँ एक राजा होते हुए अपना सब कुछ त्याग दिया था, वहीं महावीर स्वामी ने तो वस्त्र तक त्याग दिये थे। इसी प्रकार, कामा पहाड़ी से पैदल चलकर उदयपुर पहुँचने में श्री जी को न जाने कितने दिन लगे होंगे और वो भी बिना भोजन के - इसे कहते हैं सच्चा धर्म प्रचारक। लेकिन आज के जो तथाकथित धर्म प्रचारक हैं, क्या उनमें ऐसी त्याग की भावना है? धर्म प्रचार के नाम लाखों की वातानुकूलित गाड़ियों में घूमने वालों और 5-स्टार होटलों में ठहरने वालों से क्या अपेक्षा की जा सकती हैं।

उल्लेखनीय है कि श्री जी ने जो लीला की, वह केवल ब्रह्ममुनियों का मार्गदर्शन करने के लिये। सोचिये, यदि आज हम जो ठाठ-बाठ की जिंदगी बिता रहे हैं तो किसकी कृपा से? यदि उनकी ब्रह्मवाणी नहीं होती तो हमें कोई पूछने वाला नहीं होता। यह बात दूसरी है कि अपने स्वार्थ के लिये हम इस वाणी में निहित परम सत्य को जाहिर नहीं होने देते और सुन्दरसाथ को कर्मकाण्ड में उलझाये रखते हैं। याद रखिये, कोई भी समाज, धार्मिक क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकता, यदि उसका सन्यासी वर्ग तप और त्याग के स्थान पर व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं को अधिक महत्व देता है। अतः जिन त्यागियों, तपस्वियों और योगियों ने धर्म की मर्यादा का पालन किया है, हमें भी उन्हीं के कदमों पर चलना होगा, तभी समाज में सही रूप में आध्यात्मिक प्रगति होगी।

भारतीय संस्कृति में एक सन्यासी को अपने जीवन में तप, त्याग, वैराग्य, भक्ति, श्रद्धा और समर्पण जैसे गुणों को आत्मसात करना पड़ता है तथा जो भिक्षा में प्राप्त होता है, उसी से अपना पेट भरना होता है। याद रखिये, धर्म के कार्य में हर तरह का कष्ट आयेगा - भूखों भी रहना पड़ सकता है, लोगों के अपशब्दों को भी

सुनना पड़ सकता है तथा समाज के पत्थर भी खाने पड़ सकते हैं - परन्तु हमें संसार के कल्याण के लिये सबकुछ सहन करना पड़ेगा। आज धार्मिक क्षेत्र में जो भौतिकता की चकाचौंध आ गई है - बड़े-बड़े सोने-चांदी के सिंघासन, लाखों की लग्जरी गाड़ियां, विदेशी मोबाइल आदि - यह प्रवृत्ति निश्चित रूप से घातक है तथा इससे धर्म की प्रगति नहीं हो सकती। याद रखिये, आध्यात्मिक क्षेत्र में भौतिकवाद का कोई स्थान नहीं है, अतः हमें अपने संस्कारों में श्री प्राणनाथ जी के आदर्शों को स्थान देना होगा वरना हम पिछड़ों के पंक्ति से कभी भी आगे नहीं निकल पायेंगे।

जहाँ तक धार्मिक संस्थाओं में चढ़ावे या अन्य किसी रूप में आने वाले धन का प्रश्न है, उसका सदुपयोग आध्यात्मिक शिक्षा व सत्य ज्ञान के प्रचार-प्रसार तथा साहित्य प्रकाशन जैसे कार्यों में होना चाहिये न कि व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं में। हमें याद रखना होगा कि जब गरीब और मध्यमवर्गीय सुन्दरसाथ श्रद्धापूर्वक किसी मन्दिर या संस्था में दान देते हैं और वह व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं में व्य होता है तो न केवल लोगों की श्रद्धा बल्कि उस स्थान की गरिमा भी समाप्त हो जाती है। अतः इस सेवा के धन का उपयोग मानवता के कल्याण तथा समाज के पथ-प्रदर्शन में होना चाहिए। ऐसा भी देखा जाता है कि जब किसी संस्था में आवश्यकता से अधिक धन आ जाता है तो वहाँ के कर्ता-धर्ता विलासी हो जाते हैं। इस प्रकार, वहाँ से न केवल ज्ञान का प्रकाश लुप्त होना प्रारम्भ हो जाता है वरन् भक्ति की धारा भी बहनी समाप्त हो जाती है एवं धीरे-धीरे वह संस्था अपने पतन की ओर अग्रसर होने लगती है। यही नहीं, यदि यह धन अनुचित रूप से वैभव-विलास में व्य होता है तो उससे समाज में अकर्मण्यता तथा पुरुषार्थीनता आयेगी, जिससे लोगों को ज्ञान, भक्ति और वैराग्य से विरक्तता होने लगेगी जो निश्चय ही आगे चलकर समाज के लिये घातक सिद्ध होगी।



19

दर्शन की पात्रता

जब श्री जी मन्दसौर में थे तो उन्होंने श्री मुकुन्द दास जी को कुछ सुन्दरसाथ के साथ राजा भाव सिंह को जागृत करने के लिये औरंगाबाद भेज दिया था। वहाँ पहुँच कर उन्होंने कई महीनों तक भाव सिंह से मिलने का प्रयास किया लेकिन सफल नहीं हुए। राज दरबार के प्रमुख पंडित रामदास ने अपने स्वार्थवश पहले तो सुन्दरसाथ को धमकाया और फिर एक दिन उनकी बहुत पिटाई की। लेकिन श्री जी के आदेश से सत्य के मार्ग पर चलने वाले सुन्दरसाथ इससे कहाँ डरने वाले थे। तत्पश्चात् उन्होंने सावधानीपूर्वक कार्य करने का निश्चय कर एक देवी के मन्दिर में, जहाँ भाव सिंह नित्यप्रति दर्शन करने आता था, छिपकर बैठ गये। इससे पूर्व उन्होंने भिक्षा के पैसों से बाजार से एक सुन्दर रेशम की थैली खरीद कर उसमें प्रसाद तथा भागवत एवं वेदान्त के कुछ प्रश्न डाल दिये, ताकि उसे थेंट-स्वरूप भाव सिंह को दी जा सके।

जैसे ही राजा भाव सिंह मन्दिर आया, मुकुन्द दास जी ने वो थैली उन्हें दे दी। राजा ने न केवल प्रसाद की थैली स्वीकार की वरन् सुन्दरसाथ को अपने महल में भी बुलाया। दूसरे दिन जैसे ही भाव सिंह ने पाती में लिखे प्रश्नों को पढ़ना प्रारम्भ किया, वहीं पर बैठे रामदास ने इस भय से उसे भ्रमित करने का प्रयास किया कि कहीं उसकी पोल न खुल जाय। लेकिन राजा शीघ्र ही सारी स्थिति भांप गया और

उसने न केवल रामदास को अपने राज्य से बाहर निकालने का आदेश दे दिया बल्कि सुन्दरसाथ को भी सांत्वना दी।

तत्पश्चात् भाव सिंह ने अपने दरबारी पंडितों से भागवत और वेदान्त का उत्तर देने को कहा जो मुकुन्द दास जी ने अपनी पाती में लिखकर दिये थे। लेकिन जब उन्हें उनका उत्तर नहीं आया तो वे मुकुन्द दास जी की निन्दा करने लगे। फिर उन्होंने अपनी तरफ से कुछ प्रश्न पूछे, जिसका मुकुन्द दास जी ने तुरन्त उत्तर दे दिया। इस प्रकार, भाव सिंह को श्री जी पर पूर्ण विश्वास हो गया तथा दो-तीन दिन सुन्दरसाथ से चर्चा सुनने के पश्चात् श्रद्धान्वित होकर तारतम ग्रहण किया।

इसके पश्चात् राजा भाव सिंह ने श्री जी तथा समस्त सुन्दरसाथ को औरंगाबाद आने का निमंत्रण भेज दिया। उसने सबका हार्दिक स्वागत किया तथा एक हवेली में उनके रहने व खाने-पीने की व्यवस्था भी कर दी। इस प्रकार, वहाँ नित्यप्रति चर्चा का प्रवाह चल पड़ा तथा उत्सव होने लगे।

भाव सिंह में भक्ति भाव प्रबल था। वे श्री जी को साक्षात् धामधनी मानकर सेवा करते थे तथा उनके मन में किसी भी प्रकार का संशय नहीं था। एक दिन, जब श्री जी ने कुरान के प्रसंगों की चर्चा कर बताया कि वेद और कतेब दोनों ग्रन्थों में एक ही परमात्मा (अल्लाह-तहाला) का उल्लेख है तथा भाषा भेद के कारण दोनों धर्मों के मतावलम्बियों में वैमनस्य की दीवार बन गई है, परन्तु शरीयत के दबाव में औरंगजेब उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं है। इस पर भाव सिंह ने श्री जी से कहा कि यदि वे उसके दरबार के चार मुस्लिम अधिकारियों को कुरान में वर्णित कयामत जाहिर होने के चार निशानों के बातिनी अर्थ बताकर संतुष्ट कर देंगे तो वह भी धर्म की रक्षा के लिये औरंगजेब से युद्ध करने को तैयार हो जायेगा।

इसके पश्चात् कुछ इस प्रकार का घटनाक्रम होता है कि फतह मुहम्मद, जो भाव सिंह का वजीर था, के अतिरिक्त समस्त मुस्लिम अधिकारी श्री जी की ज्ञान

वर्चा से संतुष्ट हो जाते हैं तथा भाव सिंह श्री जी के निर्देशनुसार औरंगजेब से युद्ध करने को तैयार हो जाता है। परन्तु इससे पूर्व वह श्री जी से परमधाम देखने की इच्छा प्रकट करता है। श्री जी के बहुत मना करने पर भी जब वो नहीं मानता तो श्री जी अपनी कृपा दृष्टि से उसे जैसे ही योगमाया की हल्की-सी झलक दिखलाते हैं तो वह तुरन्त अपना तन त्याग देता है।

उक्त प्रसंग स्पष्टतः इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि व्यक्ति में जब तक पात्रता नहीं हो, उसे वांछित वस्तु नहीं प्राप्त हो सकती। ऐसा कहा जाता है कि शेरनी का दूध सदा सोने के पात्र में ही सुरक्षित रहता है। इसी प्रकार, श्री राज जी के दर्शन के लिये हमें पहले स्वयं को निर्विकार कर निर्मल बनाना होगा, तभी हमारे अन्दर प्रेम और विरह उत्पन्न होगा और हम दर्शन के पात्र बन पायेंगे। यह श्री राज जी की कृपा से उचित समय आने पर ही संभव होता है। धामधनी पहले जीव के विकार धोकर उसे निर्मल बनाते हैं ताकि जब दर्शन हो तो जीव बना रहे, अन्यथा काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार जैसे विकारों से ग्रसित जीव यह सहन नहीं कर पायेगा। **सामान्यतः** एक राजा का जीवन राजसी होता है और भोग-विलासों में डूबा रहता है। जैसाकि हमने पूर्व में कहा कि भाव सिंह में यद्यपि भक्ति भाव उत्पन्न हो गया था परन्तु अभी विरह और प्रेम के अभाव में हृदय में निर्मलता नहीं आई थी, अतः जैसे ही उसे योगमाया की हल्की-सी झलक दिखाई दी, उसका तन छूट गया। यह निश्चित है कि यदि वो कुछ दिन और प्रतीक्षा करता तो संभव है उसका शरीर नहीं छूटता। महारास की आनन्दमयी तथा प्रेममयी झलक देखने के पश्चात् उसके जीव अनुभव हुआ कि इस झूठी दुनिया में कुछ नहीं रखा, इसलिये उसका तन छूट गया।

परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि चितवनी से हमारा पंचभौतिक शरीर छूट जाता है, क्योंकि इस प्रक्रिया में केवल हमारी आत्मिक दृष्टि अपनी

बीतक

दर्शन की पात्रता

परात्म की भावना से परमधाम जाती है जबकि हमारा तन इसी संसार में बना रहता है। वैसे भी यह पंचभूतात्मक स्थूल तन जीव का है न कि आत्मा का। आत्मा तो मूल-मिलावे में विराजमान हमारी परात्म का प्रतिबिम्बित रूप है जिसे अति सूक्ष्म होने के कारण इन आँखों से या किसी अन्य साधन से देखा नहीं जा सकता। वैसे भी केवल परमधाम की आत्मायें ही प्रेममयी चितवनी के द्वारा मूल-मिलावे में पहुँचती हैं। जीव सृष्टि का रुझान इस तरफ नहीं होता क्योंकि वह कर्मकाण्ड के बन्धनों को तोड़ नहीं पाती।



20

कृतज्ञता

औं

रंगाबाद से रामनगर जाते समय श्री जी और समस्त सुन्दरसाथ चार माह के लिये आकोट रुकते हैं। इससे पूर्व दिल्ली, उदयपुर, मन्दसौर तथा औरंगाबाद में होने वाली जागनी लीला में सुन्दरसाथ को बहुत कष्टों का सामना करना पड़ा था। दिल्ली में औरंगजेब के अन्दर बैठी साकुमार की आत्मा को जगाने के लिये सुन्दरसाथ ने कितने कष्ट सहे, यह हम सबको अच्छी तरह से विदित है। यहाँ तक कि उन्हें अपनी वेशभूषा त्याग कर मुस्लिम वेशभूषा धारण करनी पड़ी थी। इसके पश्चात् उदयपुर में जहाँ सुन्दरसाथ को वैरागी भेष धारण करना पड़ा, वहीं मन्दसौर में तो घर-घर जाकर भिक्षा मांगनी पड़ी। औरंगाबाद में तो कुछ अर्धमी लोगों ने उनकी बुरी तरह से पिटाई भी कर दी। साथ ही, चाहे उदयपुर हो या मन्दसौर या औरंगाबाद, हर जगह मुस्लिम सेना उनका पीछा करती रही तथा उन्हें सुरक्षित स्थानों पर छिपना पड़ा और कई-कई दिन भूखे-प्यासे रहना पड़ा। एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचने के लिये उन्हें मीलों की यात्रा पैदल चलकर ही करनी पड़ती थी।

यद्यपि सुन्दरसाथ ने कष्ट सहते हुए भी श्री जी के आदेश को शिरोधार्य कर अपने कर्तव्य को पूर्ण अंजाम देने में कोई कसर नहीं छोड़ी, तथापि आकोट आते-आते अनेक सुन्दरसाथ विचलित हो गये। उनके मन में संशय उत्पन्न हो गया

कि श्री जी में कोई दिव्य शक्ति नहीं है अन्यथा उन्हें इन कष्टों से गुजरना नहीं पड़ता।

जब श्री जी को सुन्दरसाथ के मन में आई इन शंकाओं का आभास हुआ तो उन्होंने उनको सांत्वना देने के लिये प्रबोधित किया, जिसके प्रमुख अंश निम्न प्रकार हैं:

प्राणाधार सुन्दरसाथ जी, यदि आप अपने अन्तर्मन की गहराइयों में डूबकर देखें तो आपको विदित होगा कि जिन विपत्तियों के कारण आप विचलित हो रहे हैं तथा आपकी आस्था व समर्पण के पग डगमगा रहे हैं, वस्तुतः वे कुछ हैं ही नहीं। अपने बाह्य चक्षुओं से देखने के कारण ही आप अपने को असहाय महसूस कर रहे हैं। किंतु अन्तर्दृष्टि से देखने पर पता चलेगा कि धामधनी ने आपको पल-पल अपनी आँखों में बसाये रखा है। याद रखिये, समर्पण एवं संघर्ष की वेदी पर ही ज्ञान की ज्वाला प्रकट होती है। आप सबने इन कष्टों को सहकर आने वाले सुन्दरसाथ के लिये प्रेरणास्त्रोत की भूमिका निभाई है। इस खेल के समाप्त होने तक आपके समर्पण की यशोगाथा संसार में गाई जाती रहेगी। क्या आपने कभी सोचा है कि अक्षरातीत युगल-स्वरूप की जिस शोभा का ज्ञान अक्षर ब्रह्म और नारायण भगवान को भी नहीं है, उसका आप सबको कैसे हो गया? आप सब हजारों की संख्या आठ माह तक मंदसौर में रहे, फिर भी सारी मुगल फौज आपमें से किसी एक को भी नहीं पकड़ पायी। यही स्थिति औरंगाबाद में भी रही। आपकी हर जगह किसने रक्षा की? इन परिस्थितियों में आपने हँसते-हँसते जिस ‘मैं’ को छोड़ा है, उसे छोड़ने के लिये अन्य किसी भी व्यक्ति को लम्बी-लम्बी साधनायें करनी पड़ती हैं। अध्यात्म के इस चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिये मैं-खुदी का त्याग करना

पड़ता है। इसीलिये, धामधनी ने जान-बूझकर ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न की हैं। अब आपके लिये परमधाम के आनन्द का द्वार खुल गया है।

इस प्रकार, श्री जी के प्रबोधन के पश्चात् सुन्दरसाथ की भ्रांतियाँ समाप्त हो गई तथा वे पुनः जागनी कार्य में पूर्णरूप से समर्पित हो गये।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में धूप-छाँव आती रहती है तथा सुख-दुख के बादल मंडराते रहते हैं, जिन्हें हमें धैर्यपूर्वक स्वीकार करना चाहिये। “समत्वम् योग उच्यते” अर्थात् एक योगी प्रत्येक स्थिती में - चाहे पक्ष में हो या विरुद्ध - समत्व का भाव धारण करता है। सम्मान हो या अपमान, सुख हो या दुख - हमें एक समान रहना चाहिये। धार्मिक व्यक्ति वही है जो सदैव परमात्मा पर अटूट आस्था व समर्पण की भावना से धैर्य धारण किये रहता है।

जैसाकि हम सभी जानते हैं, श्री प्राणनाथ के धाम-हृदय में साक्षात् परब्रह्म अक्षरातीत विराजमान हैं, जिनकी इच्छा मात्र से ही असंख्य ब्रह्मांड पल भर में बनकर लय हो जाते हैं। परन्तु अपने सम्पूर्ण लौकिक जीवन में उनका आचरण प्रकृति की मर्यादा के अनुकूल ही रहा है। वे बारह सुन्दरसाथ को औरंगजेब के दरबार में उसे जागृत करने के लिये भेजकर स्वयं कामा पहाड़ी पर निवास करने केवल इसीलिये चले गये थे, ताकि उन सुन्दरसाथ को इस कार्य की शोभा मिल सके। हमें याद रखना होगा कि धामधनी ने ही श्री लालदास जी के धाम-हृदय में विराजमान होकर हम सुन्दरसाथ को प्रेरणा देने के लिये ही बीतक की रचना की है। अतः बीतक का प्रत्येक प्रसंग हमारे लिये प्रेरणादायक है।

प्रस्तुत प्रसंग से हमें यही शिक्षा लेनी चाहिये कि हमें सदैव श्री राज जी की कृतज्ञता प्रगट करते रहना चाहिये, जिनकी असीम मेहर पल-पल हमारे ऊपर बरस रही है। कृतज्ञता एक महान् मानवीय गुण है, जिसका अर्थ होता है किसी व्यक्ति द्वारा की गई सहायता के लिये उसके प्रति श्रद्धापूर्वक सम्मान प्रकट करना। दूसरे

शब्दों में, कृतज्ञता श्रद्धा के अर्पण का भाव है। हमें जिससे जो मिला है, हम उसके ऋणी है तथा इसकी अभिव्यक्ति ही कृतज्ञता है। अवसर आने पर उसे सम्मानपूर्वक लौटा देना, इस गुण का मूल मंत्र है। इसी एक गुण के बल पर समाज और मानव में एक सहज सम्बंध विकसित होता है जो भावना एवं संवेदना का जीवंत रूप है। कृतज्ञता एक पावन यज्ञ है।

सारी वाणी पुकार-पुकार कर कह रही है कि श्री राज जी हमें तिल जितना भी कष्ट नहीं दे सकते। एक स्थान पर तो उन्होंने यहाँ तक कह दिया है कि यदि मेरी जिव्हा से ब्रह्मात्माओं के लिये यदि ‘दुख’ शब्द का उच्चारण भी हो जाय तो वे इसे जला देंगे। सोचिये, जिनकी महिमा सम्पूर्ण जगत गाता है, वे आपकी गाते हैं। ऐसे प्रियतम परब्रह्म के लिये हमारे मन में यदि किसी प्रकार का संशय उत्पन्न होता है तो यह निश्चित रूप से यह हमारे मोमिन होने का प्रमाण नहीं है।



21

अहम और समर्पण

रमनगर से गढ़ा होते हुए श्री जी वि. सं. 1740 के प्रारम्भ में पत्रा पधारते हैं। उस समय महाराजा छत्रसाल जी मऊ में थे। श्री जी व छत्रसाल जी के मिलाप की भूमिका तो छत्रसाल जी के भतीजे देवकरण जी के द्वारा पहले से तैयार हो चुकी थी जब रामनगर प्रवास के दौरान श्री जी की चर्चा सुनकर देवकरण जी को पूर्ण विश्वास हो गया था कि श्री जी के अन्दर अवश्य ही श्री विजयाभिनन्द बुद्ध निष्कलंक स्वरूप श्री प्राणनाथ जी विराजमान है जिनकी पिछले बारह वर्ष से उनके चाचा छत्रसाल जी प्रतीक्षा कर रहे हैं। दरअसल, लगभग बारह वर्ष पूर्व (वि.सं. 1728) एक दिन जब छत्रसाल जी मुगलों से बुन्देलखण्ड राज्य को स्वतंत्र कराने के बारे में सोचते हुए बहुत परेशान थे तो उनकी आँख लग गई। तब स्वप्न में श्री जी ने उन्हें दर्शन देकर उनका मनोबल बढ़ाया तथा कहा कि वे शीघ्र ही आयेंगे। जब उनकी नींद टूटी तो उन्होंने देखा कि सचमुच उनके हाथों में श्री विजयाभिन्द बुद्ध जी की एक मुहर (सिक्का) थी, जिसमें उनका चित्र अंकित था। उन्होंने श्रद्धापूर्वक उस मुहर को सदैव अपने गले में डाले रखा तथा प्रतीक्षा करते रहे कि शीघ्र ही उन्हें उस स्वरूप के साक्षात् दर्शन होंगे।

देवकरण जी को इस घटना के सम्बन्ध में पहले से पता था, अतः जैसे ही उन्हें श्री जी के अन्दर उस स्वरूप की पहचान हुई तो वे छत्रसाल जी को उसकी सूचना देने शीघ्र ही मऊ आ गये। इसलिये, देवकरण जी को पैगम्बर भी कहा गया

है। चूंकि छत्रसाल जी में परमधाम का अंकुर था, अतः उनके हृदय में धनी के प्रति अपना सर्वस्व समर्पित करने का उत्साह उत्पन्न हो गया। उन्होंने तुरन्त ही देवकरण जी को आदेश दिया कि वे श्री जी को सम्मानपूर्वक मऊ ले आयें।

छत्रसाल जी के प्रेम और समर्पण भाव से भेजे हुए निमंत्रण से श्री जी बहुत आनन्दित हुए तथा वे सुन्दरसाथ सहित पत्रा जी में किलकिला नदी के किनारे अमराई घाट पर आकर निवास करने लगते हैं। तब उन्होंने अपने चित्त में यह सोच लिया कि जागनी लीला का मुख्य झंडा यहीं गाढ़ा जायेगा।

जब श्री जी ने छत्रसाल जी को अपने पत्रा जी आने की सूचना भेजी तो उसी समय मुगल सेनापति अफगन खान की विशाल सेना ने मऊ को धेर लिया तथा संभावित हमले की आशंका से छत्रसाल जी का श्री जी से मिलने पत्रा जी आना सम्भव नहीं था। अतः उन्होंने श्री जी को संदेश भेजकर प्रार्थना की कि वे बच्चों, महिलाओं तथा वृद्ध सुन्दरसाथ को छोड़कर कुछ युवा सुन्दरसाथ के साथ मऊ पथारें ताकि वे उनके दर्शन कर अखण्ड सुख की प्राप्ति कर सकें।

तत्पश्चात् श्री जी पत्रा जी से मऊ आते हैं तथा महाराजा छत्रसाल जी से उनका मिलाप होता है तथा छत्रसाल जी परिवार सहित उनके चरणों में पूर्णरूप से समर्पित हो जाते हैं। अफगन खान की विशाल सेना पर अपनी छोटी-सी सेना से विजय पाने के पश्चात् उनका विश्वास पहले से अधिक दृढ़ हो गया तथा श्री जी के तारतम ज्ञान से उनकी आत्मा पूर्णरूप से जागृत हो गई। तब उन्होंने अपने हृदय से सांसारिक मोह का पूर्णतः त्याग कर दिया और साक्षात् अक्षरातीत धामधनी मानकर श्री जी की सेवा करने लगे।

अध्यात्म में श्रद्धा तथा समर्पण का महत्वपूर्ण स्थान है परन्तु यह अहम के विसर्जन के बिना सम्भव नहीं होता। अहम अर्थात् स्वयं के अस्तित्व को मिटाना। सच्चे सद्गुरु में परमात्मा के गुणों की झलक होती है, अतः अपने सद्गुरु के प्रति उस पवित्र भावना से प्रेरित होकर जिसने अपने अहम को त्याग दिया, उसे सद्गुरु

की सम्पूर्ण आध्यात्मिक सम्पदा प्राप्त हो जाती है क्योंकि उसका शुद्ध तथा निश्छल प्रेम परब्रह्म के प्रति हो जाता है। बीतक में स्पष्ट रूप से कहा गया है- “पहले दाता हम भए, गुरु को दीनो सीस; पीछे दाता गुरु भए, सब कछु कियो बकसीस।” अर्थात् पहले शिष्य को अपना अहम रूपी सिर गुरु के चरणों में सौंपना होता है, जिसके पश्चात् ही गुरु के द्वारा सारी आध्यात्मिक सम्पदा उसे प्रदान की जाती है। छत्रसाल जी ने ऐसा ही किया, यद्यपि बलदीवान जैसे अनेक लोगों ने श्री जी के प्रति उनका विश्वास तोड़ने का बहुत प्रयास किया। किंतु परमधाम का अंकुर होने के कारण छत्रसाल जी श्री जी के प्रति पूर्णतः समर्पित रहे। वे अपने कंधे पर श्री जी को सुखपाल में बैठाकर अमराई घाट से चौपड़े की हवेली में लाये तथा उनके स्वागत में अपना पांवड़ा बिछा दिया। यही नहीं, आरती उतारने से पूर्व अपने सम्पूर्ण राज्य के प्रतीक के रूप में चाबी समर्पित कर दी। इस प्रकार, छत्रसाल जी ने अपने अहम का पूर्णरूप से विसर्जन कर श्री प्राणनाथ जी के चरणों में स्वयं को समर्पित कर दिया तथा साकुण्डल सखी के रूप में जाहिर हुए।

सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक गुरु और शिष्य के सम्बन्ध को विद्वानों ने बहुत अच्छी तरह से विश्लेषित किया है परन्तु इसका साक्षात् प्रमाण यह है। एक वास्तविक गुरु तथा समर्पित शिष्य में परस्पर कैसी भावना होनी चाहिए, यह पूर्णरूप से स्पष्ट हो गया। इसके साथ ही श्री जी पर छत्रसाल जी द्वारा पूर्ण समर्पण का परिणाम यह हुआ कि जिसने भी उनके राज्य पर कुट्टिठ डाली, उसका पतन प्रारम्भ हो गया। यह सुख छत्रसाल जी को इसलिये प्राप्त हुआ क्योंकि उन्होंने श्री राज जी पर अटूट विश्वास किया। छत्रसाल जी ने त्याग, समर्पण तथा सेवा की भावना को अपने आचरण में लाकर दिखाया, इसीलिये उन्हें ‘अमीरूल मोमिन’ अर्थात् ब्रह्मात्माओं में शिरोमणि कहा गया है।

परन्तु इसके साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि यदि कोई छल, द्वेष या स्वार्थवश अपने सद्गुरु के प्रति समर्पित नहीं हो पाता तो वह आध्यात्मिक

बीतक

अहम और समर्पण

दृष्टि से खाली हाथ रह जाता है, भले ही वह कितना बड़ा विद्वान क्यों न हो? उल्लेखनीय है कि यहां सद्गुरु का आशय न्यासियों की कृपा से बने आचार्यों या धर्मग्रन्थों के धुरन्धर विद्वानों से नहीं है बल्कि जिसके धाम हृदय में परब्रह्म अक्षरातीत की साक्षात छवि बस गई हो, वही वास्तविक रूप में सद्गुरु हैं।

यहाँ यह भी स्पष्ट करना उचित होगा कि बीतक साहब की कुछ चौपाईयों से यह भ्रान्ति होती है कि श्री प्राणनाथ जी एवं छत्रसाल जी में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध था जो उचित नहीं है। यह केवल श्री लालदास जी की लौकिक भावों के रूप में की गई अभिव्यक्ति है। परमधाम में न तो कोई गुरु हैं और न ही कोई शिष्य, न ही कोई भगवान है और न ही कोई भक्त, केवल श्री राज जी ही हैं और समस्त सखियां उन्हीं की ही अंगरूपा हैं। अर्थात् यह सम्बन्ध समुद्र और उसकी लहरों अथवा सूर्य और उसकी किरणों के समान है। दूसरे शब्दों में, परमात्मा और आत्मा का सम्बन्ध है। श्री प्राणनाथ जी में जहाँ आवेश स्वरूप से अक्षरातीत विराजमान थे, वहीं छत्रसाल जी में परमधाम की साकुण्डल सखी की आत्मा थी। चूंकि विजयाभिनन्द बुद्ध निष्कलांक स्वरूप श्री प्राणनाथ जी सभी ब्रह्मसृष्टियों के प्रियतम है, अतः हमें इसी रूप में श्री जी व छत्रसाल जी के सम्बन्धों को देखना चाहिए।



22

तमे प्रेम सेवाए पामसो पार

पद्मावती पुरी धाम में श्री प्राणनाथ जी को समस्त सुन्दरसाथ साक्षात् पूर्णब्रह्म अक्षरातीत मानकर परमधाम के भावों से जिस प्रकार आठों प्रहर सेवा करके रिझाते हैं, उसकी चौदह लोकों में कोई दूसरी मिसाल मिलना नामुमकिन है। ब्रह्मात्माओं ने इस नश्वर जगत में अनन्य प्रेम लक्षणा भक्ति द्वारा अपने धामधनी को रिझाया तथा उनकी सेवा में अपना तन-मन-धन न्यौछावर किया, उस सुख का वर्णन कर पाना असम्भव है। दस वर्षों तक होने वाली अखण्ड ज्ञान, प्रेम तथा सेवा की इस लीला की जरा-सी भी सुगन्ध यदि संसार में फैल जाय तो लोगों के समस्त मायावी विकार समाप्त हो जायेंगे।

सेवा चार प्रकार से की जाती है – आत्मा, जीव, मन तथा शरीर से। इन सबकी अलग-अलग उपयोगिता तथा महत्व है। आत्मिक सेवा जहाँ मारफत के धरातल पर होती है, वहीं जीव भाव से की गई सेवा हकीकत के धरातल पर होती है। मानसिक सेवा अन्तःकरण (मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार) से होती है अर्थात् मन से वाणी मनन करना, चित्त से चिंतन करना, बुद्धि से विवेचना करना तथा अहम भाव से स्वयं को अक्षरातीत परब्रह्म श्री राज जी की अर्खांगिनी मानना। शारीरिक सेवा से तात्पर्य हमारा शरीर हर पल धनी तथा सुन्दरसाथ की सेवा में तत्पर रहे।

उस समय लगभग 5,000 की संख्या में सुन्दरसाथ थे जो बिना अपना समय गंवाये हर पल सेवा में तैयार रहते थे। ‘क्यामतनामा’ ग्रन्थ में इन सुन्दरसाथ

को “दासों का दास” कहा गया है, जिनमें किसी प्रकार का अहम नहीं था। उनका तन-मन-धन सब श्री राज जी के लिये समर्पित था तथा संसार के विषयों और सुखों में उन्हें कोई आसक्ति नहीं थी। वे बिना कहे सेवा करते थे क्योंकि उनमें इसकी तड़फ थी। याद रखिये, किसी के दबाव से यदि कोई सेवा करता है तो उसका कोई मूल्य नहीं होता। एक-एक सेवा में कई-कई सुन्दरसाथ रहते थे - किसी में भी टालने की प्रवृत्ति नहीं थी। चाहे पुरुष सुन्दरसाथ हों या महिला सुन्दरसाथ - सभी शरीर भाव से ऊपर उठकर सेवा करते थे, अतः किसी को कोई संकोच नहीं होता था। उस समय जो प्रेम बरसता था, उस आनन्द को वही सुन्दरसाथ जान सकते हैं जो उस समय सेवा में उपस्थित होते थे।

वाणी गायन करने वाले सुन्दरसाथ के 14 समूह थे जो प्रत्येक प्रहर में बारी-बारी से सेवा कर श्री जी को रिझाते थे। श्री जी स्वयं भी कभी गहरी निद्रा में नहीं सोते थे और उनका मस्तिष्क हर पल कार्यशील रहता था। वे एक पल भी बर्बाद नहीं करते थे ताकि आने वाले सुन्दरसाथ, विशेषकर अग्रगण्य सुन्दरसाथ, जिन पर जागनी का उत्तरदायित्व है, आलस्य-प्रमाद का शिकार न हो जावें। मनुष्य को पुरुषार्थी और अनासक्त होना चाहिए, तभी लक्ष्य प्राप्ति हो सकती है।

आठों प्रहर में छ: घंटे वाणी चर्चा तथा प्रातः और सायं तीन घंटे चितवनी कराई जाती थी, जिसे सुन्दरसाथ श्री राज जी की सेवा मानकर ही करते थे। उल्लेखनीय है कि 5,000 की संख्या में तीनों सृष्टियां सम्मिलित थीं, परन्तु ब्रह्म सृष्टियां श्री जी को सदैव अपनी आत्मा का प्रियतम मानकर सेवा करती थीं। उनके लिये वो दिन व्यर्थ होता था जब वे चर्चा, चितवनी और सेवा से धामधनी को रिझाती नहीं थीं। जीव सृष्टि रजोगुण और तमोगुण की अधिकता के कारण न केवल चर्चा-चितवनी से जी चुराती थीं, बल्कि सेवा में भी पीछे रहती थीं। उनका हृदय कठोर तथा अहंकार से परिपूर्ण होता है, जिसमें प्रेम नहीं होता। जिनके दिल में कोमलता, प्रेम, श्रद्धा और समर्पण की भावना है, श्री राज जी उनसे एक पल के

लिये भी दूर नहीं होते। जिसने धामधनी को अपना दिल दे दिया, धामधनी भी उसे अपना दिल दे देते हैं। याद रखिये, जिन सुन्दरसाथ ने श्री जी की सेवा कर अपना जीवन कुर्बान किया, उनकी महिमा के लिये दुनिया में कोई शब्द नहीं है।

सेवा सदा भाव से होती है – जब तक हमारे मन में अहंकार रहेगा, सेवा नहीं हो सकती। इसी प्रकार, यदि हम प्रत्येक सुन्दरसाथ को आत्मिक दृष्टि से देखते हैं, तो न केवल हम राग-द्वेष एवं धृणा भाव से निवृत हो जायेंगे बल्कि हमारे अन्दर प्रेम भाव भी आ जायेगा तथा हम सेवा के लिए सदैव तत्पर रहेंगे। उल्लेखनीय है कि बिना प्रेम और सेवा के पूर्ण जागृति नहीं हो सकती।

कई बार सेवा कार्य कठिन लगता है लेकिन बाजी सदैव उसी के हाथ में होती है जो निष्ठापूर्वक सेवा करता है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सेवा करके कोई किसी पर उपकार नहीं करता बल्कि सेवा सदैव अपने आत्म-कल्याण के लिये की जाती है। अपने प्राणेश्वर या सुन्दरसाथ की सेवा के बदले न केवल हमारा अहंकार समाप्त होता है, बल्कि हममें विनम्रता भी आती है, जो आत्म-जागृति के लिये आवश्यक हैं। दूसरे शब्दों में, सेवा सदैव श्री राज जी की कृपा से होती है, अतः सेवा करने वाले व्यक्ति को इसे अपना सौभाग्य मानना चाहिए कि उसे सेवा का सुअवसर प्राप्त हुआ।

सेवा के समान न तो काई बंदगी है और न ही कोई बुजरगी। हमारा हृदय केवल प्रेममयी सेवा से ही निर्मल हो सकता है। महाराजा छत्रसाल जी का उदाहरण देखिये – शासकीय उत्तरदायित्व होने के बावजूद भी अष्ट प्रहर की सेवा में वे छः प्रहर उपस्थित रहते थे। उन्होंने श्री प्राणनाथ जी को अपनी आत्मा का प्रियतम मानकर सेवा की, इसलिये उन्हें ‘अमीर्खल मोमिन’ भी कहा गया। उनके द्वारा की गई सेवा का इस ब्रह्माण्ड में कोई दूसरा उदाहरण नहीं है।

स्मरण रहे कि हम जो सेवा करते हैं वह धामधनी से छिपी नहीं होती, इसलिये किसी अन्य को बताने की आवश्यकता नहीं है। यदि हमने अपनी सेवा के

बदले नाम या प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमने उसकी कीमत वसूल ली। परन्तु यदि हम इसे गुप्त रखते हैं तो यह अवश्य ही मृत्युपरांत हमारे साथ जायेगी क्योंकि यही हमारी अखण्ड सम्पदा है। सच्चे हृदय से की गई सेवा के प्रतिफल को हमसे कोई भी छीन नहीं सकता, परन्तु यदि हम इसका छिंडोरा पीटेंगे तो हमें लौकिक प्रतिष्ठा तो अवश्य प्राप्त हो जायेगी लेकिन हमारी आत्मा जागृत नहीं हो पायेगी।

एक कहावत है - सेवा का फल सदा मीठा होता है परन्तु सामान्यतः लोग इससे जी चुराते हैं। याद रखिये, कोई भी सेवा छोटी या बड़ी नहीं होती। जो सबसे छोटी सेवा करता है वह सबसे महान होता है। युधिष्ठिर के राजसीय यज्ञ में योगेश्वर श्री कृष्ण ने सबके जूठे पत्तल-दोनें उठाने की सेवा की थी। अतः जिनके हृदय में अटूट ईमान, श्रद्धा और समर्पण की भावना होती है, वही निष्ठापूर्वक सेवा में आगे रहते हैं। जिन ब्रह्मात्माओं ने हकी सूरत श्री प्राणनाथ जी की सेवा की, वे धन्य-धन्य हैं। उनके मन में दृढ़ विश्वास था कि हमें यहीं बैठे-बैठे परमधाम देखना है। आज हमारे पास इतनी अधिक सुख-सुविधायें हैं, परन्तु ब्रह्ममुनियों जैसा प्रेम और विश्वास नहीं है। हमें विश्वास ही नहीं होता कि हम यहाँ बैठे-बैठे युगल-स्वरूप को देख सकते हैं। इसके लिये हमें स्वयं को तपाना होगा, अपने को विषयों से दूर करना होगा तथा अपनी आत्मा के चक्षुओं को खोलना होगा। यदि हम तुष्णाओं के पीछे-पीछे भागेंगे तो कहीं-न-कहीं भटक जायेंगे।

अतः पन्ना जी में सुन्दरसाथ ने दस वर्ष तक अष्ट प्रहर-चौसठ घड़ी जो सेवा की, वह हमारे लिये सिखापन है। हमें इसे अपनी दिनचर्या में सम्मिलित करना होगा। इसके लिये आवश्यक है कि हम अष्ट प्रहार की सेवा के नाम पर केवल सेवा-पूजा जैसे कर्मकाण्डों से ऊपर उठकर नियमित रूप से वाणी चर्चा और चितवनी को भी स्थान देवें, अन्यथा आत्म-जागृति का हमारा लक्ष्य पूर्ण नहीं हो सकेगा।

अंत में, यही कहा जा सकता है कि अष्ट प्रहार की लीला, जागनी लीला तथा परमधाम की लीला को स्मरण करने का एक उत्तम साधन है क्योंकि यह एक प्रकार से सम्पूर्ण बीतक का क्रियात्मक रूप है। यह हमारे लिये इसलिये भी प्रेरणादायी है कि हम उठते-बैठते, सोते-जागते आठों प्रहर धामधनी से बातें करें ताकि हमारे हृदय में संसार न बसे। इस लीला को आत्मसात कर जो ब्रह्ममुनियों के पदचिन्हों पर चलने का प्रयास करेगा, वह इस लोक में भी धन्य-धन्य होगा तथा परमधाम में भी।



23

श्री लालदास जी की प्रबन्धन कला

प्रबंधन का अर्थ मानवीय प्रयासों के नियोजन, संगठन, समन्वय, निर्देशन व नियंत्रण द्वारा उपलब्ध संसाधनों का सर्वोत्तम उपयोग करना है ताकि निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सके। दूसरे शब्दों में, किसी भी संगठन या संस्था के निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उपलब्ध मानवीय एवं भौतिक साधनों का उचित एवं श्रेष्ठतम उपयोग ही प्रबंधन कला है।

पद्मावती पुरी धाम में लगभग दस वर्ष तक चलने वाली अष्ट प्रहर की सेवा को कार्यान्वित करने के लिये श्री जी ने श्री लालदास जी को चुना था। वास्तव में, प्रबन्धन कार्य वही कर सकता है जिसे इसका पूर्व अनुभव हो। जैसाकि विदित है कि श्री जी के चरणों में आने से पूर्व श्री लालदास जी एक उद्योगपति थे तथा बहुत बड़ा व्यवसाय संचालित करते थे। इसके अतिरिक्त एक प्रबंधक में कुछ विशेष व्यक्तिगत गुणों का होना आवश्यक है, जिनके बिना यर्थार्थ में प्रबंधन कार्य करना कठिन होता है। संक्षेप में, ये गुण निम्नलिखित हैं :

- (1) संवेदनशीलता : संवेदना-विहिन व्यक्ति का जीवन निरर्थक होता है। ऐसा व्यक्ति न तो योगी हो सकता है न ही विद्वान और न ही वह समाज की सेवा कर सकता है। यदि किसी व्यक्ति में दूसरों की पीड़ा को अपनी पीड़ा समझने का भाव है तो उसमें प्रबंधन का गुण स्वतः ही विकसित हो जायेगा।

- (2) **दूरदर्शिता :** किसी भी संस्था के उचित प्रबंधन के लिये व्यक्ति का दूरदर्शी होना अत्यन्त आवश्यक है। याद रखिये, आग लगने पर कुँआ नहीं खोदा जाता। भविष्य में आने वाले किसी भी संकट के लिये पूर्व में की गई तैयारी श्रेयस्कर होती है।
- (3) **सजगता :** यदि हम सजग नहीं हैं और हमारे अन्दर जरा-सा भी आलस्य-प्रमाद आ गया है, तो हम प्रबंधन कार्य को अच्छी तरह से नहीं निभा सकते।
- (4) **पुरुषार्थ :** यह तभी संभव होगा जब हम नेतृत्व करने के लिये स्वयं आगे बढ़कर पहल करेंगे।
- (5) **उच्च आदर्श :** हमें मानवीय दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए उच्च आदर्शों के साथ समस्त कार्य करना होगा।

जिस व्यक्ति में उक्त पांच गुण होंगे, वो निश्चित रूप से प्रबंधन कार्य बड़ी निपुणता से कर पायेगा। श्री लालदास जी में ये सारे गुण विद्यमान थे, इसलिये श्री जी ने 5,000 सुन्दरसाथ की सेवा कार्य का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उनकों सौंप दिया था। चूंकि कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना ही निपुण हो, सारे कार्य स्वयं नहीं कर सकता, अतः श्री लालदास जी ने 36 विभाग बनाकर समस्त सेवा कार्य का विकेन्द्रीकरण कर दिया। जो भी सुन्दरसाथ जिस क्षेत्र में निपुण थे, उन्हें उसकी व्यवस्था का उत्तरदायित्व सौंप कर उनके साथ कुछ अन्य सुन्दरसाथ को सहायक के रूप में नियुक्त कर दिया। उन्होंने अपने पास केवल नियंत्रण का कार्य रखा जो वे अपनी सूक्ष्म एवं कल्पनाशील दृष्टि से अवलोकन कर करते थे। वे समय-समय पर समस्त विभागों के प्रमुखों से मिलकर न केवल उनकी समस्याओं का समाधान करते थे वरन् परस्पर सामजंस्य स्थापित करते थे। समस्त कार्यों के प्रबंधन का एक विधान बना दिया गया था, जिसके अनुसार ही समस्त कार्य संपादित होते थे। श्री लालदास जी द्वारा निष्ठा-पूर्वक किये गये कुशल प्रबंधन से श्री जी सदा प्रसन्न रहते थे।

स्मरणीय है कि कोई भी संस्था या संगठन केवल धन के बल पर नहीं चल सकता। हम सोने की ईटों से भले ही कोई भव्य मन्दिर बना लेवें लेकिन जब तक उसका प्रबंधन उचित हाथों में नहीं होगा, वह सही ढंग से कार्य नहीं कर पायेगा। इसके लिये आवश्यक है कि हम प्रबंधन के उक्त वर्णित पाँच सिद्धान्तों को अपने जीवन में आत्मसात करें, तभी कोई संस्था शिखर पर पहुँच पायेगी।

इसके साथ ही संस्था/संगठन के प्रमुख का निष्पक्ष होना भी अत्यन्त आवश्यक हैं क्योंकि न्याय में पक्षपात होने से अक्सर संस्थायें टूट जाती हैं। अंत में, एक सेवक के लिये अपने अहम को तोड़ना भी आवश्यक है क्योंकि अंहकार और सेवा दोनों एक-साथ नहीं चल सकते। जिस व्यक्ति ने अंहकार को जीत लिया, उसके लिये सेवा के क्षेत्र में अग्रणी होना मुश्किल नहीं होता। यदि हम सुन्दरसाथ भी अपना तन-मन-धन धनी की सेवा में अर्पित कर अपना जीवन सार्थक करते हैं तो यहाँ भी धन्य-धन्य होंगे और परमधाम में भी।

